CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

6.1V

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्र० ३१४

श्रीस्वामिनारायणो विजयतेतराम्

श्रीयोगानन्दमुनिग्रन्थमालायाः पञ्चमं पुष्पम्

श्रीमद्भगवद्गीता

सनातन-धर्मधुरंधर-आचार्य-श्रीविहारिलालमहाराजविरचिता
अन्वयार्थदीपिकाव्याख्यासमलंकृता, हिन्दी-अनुवादयुक्ता च

११४३

प्रस्तावनां प्रतन्वानः

पुराणप्रवक्ता, विद्वद्वर्य-ब्रह्मनिष्ठः गढपुरनिवासी

सद्गुरु-पुराणी-स्वामी श्रीहरिप्रियदासः

सम्पादकः संशोधकश्च

श्री प्राणलाल भाईशंकर आचार्य, वेदान्ताचार्य, एम. ए.

प्रकाशकः—हरिप्रकाशशास्त्री

वेदान्ततीर्थ, ऋग्वेदशास्त्री, सांख्य-योग-पुराण-इतिहास-शास्त्राचार्य,
पी० जी० डी० आई० फिलोसफी ऐण्ड रिलीजन,
(काशी हिन्दू विश्वविद्यालय)

२०२५ गांधी शताब्दी १९६९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकाशकः—हरिप्रकाशशास्त्री
श्रीस्वामिनारायणमंदिर, मछोदरीबाग, वाराणसी

मूल्य रुपये पाँच

मुद्रकः—नरेन्द्रकुमार प्राणलाल आचार्य
आचार्य मुद्रणालय, कर्णघण्टा, वाराणसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समर्पणम्

परब्रह्मनिष्ठ-ब्रह्मस्वरूप-तपोनिधि-धर्मविद्या-भास्कर-
चरांडवामहंत-शास्त्रिस्वामि-श्रीगोपालचरणदासेभ्यः
पुस्तकपुष्पाञ्जलिरियमतीव श्रद्धया समर्प्यते ।

हरिप्रकाशशास्त्रिणा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकाशकीय

श्रीमद्भगवद्गीता का महत्व सर्वजनसुविदित है। किसी भी भारतीय धर्मप्रवर्त्तक को अथवा प्रकाण्ड पण्डित महानुभाव को श्रीगीता का अध्ययन-अध्यापन करना परम आवश्यक होता है। उसके विना उसका व्यक्तित्व अपूर्ण समझा जाता है। इतना ही नहीं किन्तु उस पर अपनी व्याख्या, टीका, और भाष्य लिखना भी परम आवश्यक माना जाता है। इस परम्परा के अनुसार गीता पर हजारों व्याख्या, टीका और भाष्य लिखे जा चुके हैं। इस प्रकार श्रीस्वामिनारायण धर्म के आचार्यों ने भी तीन चार व्याख्या और भाष्य लिखे हैं। यह छात्रोपयोगी "अन्वयार्थदीपिका व्याख्या" सनातन-धर्मधुरन्धर आचार्य श्रीविहारिलालजी महाराजने एक शताब्दीपूर्व लिखा था। इस ग्रन्थ की एक पाण्डुलिपि गढपुर के प्रसिद्ध ब्रह्मस्वरूप महामुक्त सन्त, ब्रह्मचारी स्वामी श्रीअक्षरानंदजी के शिष्य सद्गुरु ब्रह्मचारी स्वामी गदाधरानन्दजी ने स्वयं अपने सुन्दर हस्ताक्षरों से लिखकर अपने पास रखा था। उसी पाण्डुलिपि को उनके शिष्य ब्रह्मचारी पुराणी श्रीअविनाशानन्दजीने मुझे दिया। अतः मैं उन सब महानुभावों का ऋणी हूँ। एवं प्राप्त व्याख्या का प्रकाशन करके मैं अपने को कृतकृत्य समझ रहा हूँ।

इस पुस्तक का संपादन करनेवाले मेरे परम मित्र श्रीप्राणलाल भाईशंकर आचार्य, वेदान्ताचार्य एम. ए. का मैं आभारी एवं ऋणी हूँ। मुझे पूर्ण आशा है छात्रों एवं सामान्य संस्कृत जाननेवालों के लिए यह व्याख्या बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगी।

गांधी शताब्दी, २०२५

हरिप्रकाश शास्त्री

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रीमद्भगवद्गीता का विषय

अध्याय	विषय	पृष्ठ
१	—अर्जुनविषादयोगः	१
२	—साङ्ख्ययोगः	१८
३	—कर्मयोगः	४३
४	—ज्ञानयोगः	५८
५	—कर्मसंन्यासयोगः	७२
६	—आत्मसंयमयोगः	८२
७	—विज्ञानयोगः	९७
८	—अक्षरपरब्रह्मयोगः	१०६
९	—राजविद्याराजगुह्ययोगः	११४
१०	—विभूतियोगः	१२४
११	—विश्वरूपसंदर्शनयोगः	१३५
१२	—भक्तियोगः	१५०
१३	—क्षेत्रज्ञविभागयोगः	१५५
१४	—गुणत्रयविभागयोगः	१६४
१५	—पुरुषोत्तमप्राप्तियोगः	१७१
१६	—दैवासुरसम्पद्विभागयोगः	१७७
१७	—श्रद्धात्रयविभागयोगः	१८३
१८	—मोक्षसंन्यासयोगः	१९०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रीस्वामिनारायणो विजयतेतराम्

प्रस्तावना

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

सभी उपनिषद् गाय है जिनका बछड़ा अर्जुन है । दोहने वाले नन्दनन्दन परमात्मा श्रीकृष्ण जी है, जिसने महान् गीतामृत का दोहन किया है, इसका अधिकारी सद्बुद्धि भगवद्भक्त है । गीतामृत को महान् इसलिए कहा गया है कि इसके पान से शाश्वत मुक्ति प्राप्त होती है ।

सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः । सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्ववेदमयो मनुः ॥
गीता गङ्गा च गायत्री गोविन्देति हृदि स्थिते । चतुर्गकारसंयुक्ते पुनर्जन्म न विद्यते ॥
भारतामृतसर्वस्वगीताया मथितस्य च । सारमुद्धृत्य कृष्णेन अर्जुनस्य मुखे हुतम् ॥

महाभारत भी. प. अ. ४३।२-३-५,

गीता सर्वशास्त्रस्वरूप है, उसमें सभी शास्त्रों के सिद्धान्त वर्तमान है ।

गीता, गङ्गा, गायत्री तथा गोविन्द-ये चार गकार अर्थात् चारों नाम यदि हृदय मंदिर में स्थापित कर लिए जाय, तो जन्म-मरण का बखेडा सदा के लिए समाप्त हो जाता है ।

भगवान् श्रीकृष्ण ने ही महाभारत के सर्वस्व गीतारूप अमृतरस, अर्जुन को पिलाया है ।

अश्वमेध पर्व की कथा के अनुसार गीता की सर्वोत्कृष्टता दिखाने के लिए स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन के पुनः पूछने पर भी फिर से वह उपदेशामृत नहीं कहा । भारतीय संस्कृत साहित्य, परवर्ती भाषा साहित्य अथवा विश्व की किसी भी भाषा के उपदेशात्मक आध्यात्मिक वाङ्मय में, गीता का सर्वोत्कृष्ट एवं विशिष्ट स्थान है । आध्यात्मिक जीवन में गीता प्राण के स्थान पर है । भारतीय विद्वत्परम्परा में आज तक जितने ऋषि, मुनि, आचार्य, व्याख्याता एवं प्रवक्ता हुए हैं, उन सभी ने गीता का मनन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चिन्तन करके, मुक्तकण्ठ से उसकी महीमा को गाया है। फिर आत्मानुभूति के अनुसार उसके तात्पर्य के विषय में अभिप्राय व्यक्त करके, उन लोगों ने अपने को कृतकृत्य समझा है। गीता का उपदेश सर्वजनीन एवं सर्वजनहितावह है। कुछ सीमित देश, जाति या व्यक्ति के लिए वह सीमाबद्ध नहीं है। तथैव इस गीता का उपदेश त्रिकालाबाध्य है, अतः अपूर्व परम्परागत यह उपदेश अनन्त काल तक अनेक मुमुक्षुओं को अनादि बन्धन से मुक्त कराके शाश्वत मोक्ष का दाता बना रहेगा। गीता पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के श्रीमुख की सर्वशास्त्रमयी वाणी है इसी लिए यह विभिन्न देश-काल के विभिन्न अधिकार तथा रुचि के लोगों को अधिकार तथा रुचि के अनुसार प्रथम कर्त्तव्य कर्म में प्रवृत्ति कराके भगवत्सन्मुख गति करा देती है। जैसे पितामह ब्रह्मा जी ने देव, मनुष्य और असुरों को लक्ष्य करके अधिकारानुसार एक ही 'द' शब्द के उपदेश से इन्द्रियदमन, दान तथा दया के रहस्य को समझाया था, वैसे ही यह भगवद्वाणीरूपी गीता, एकरूपा होने पर भी विश्व के समस्त मानव को यथाधिकार कल्याणमय कर्त्तव्य पथ की ओर निर्देश करती है।

भवाटवी में भटकते हुए जीवों के यथार्थ कल्याण के लिए गीतातत्त्व अचूक पथ-प्रदर्शक है या संसारार्णव में विवश बहती हुई जीवन-तरणी के लिए पतवार एवं ध्रुवदर्शक है। यह अज्ञानतिमिरान्धों के लिए ज्ञानाञ्जनशलाका तथा पङ्गुओं के पाँव है। यह असहायों की सहाय तथा निर्बलों का बल है। यह विषयाग्नि के लिए वर्षा एवं भव-रोग के लिए महौषधी है। इसके एक-एक शब्द संसार के प्रत्येक व्यक्ति, जाति, समाज तथा राष्ट्र के लिए श्रेयस्कर है।

इस प्रकार गीता की अनुपम तथा अपार महिमा को समझने के बाद यह विचार आता है कि गीता है कौन सा तत्त्व! एवं इसका तात्पर्य क्या है? हमारे पूर्व के कई आचार्यों ने इसको केवल ज्ञान (निवृत्ति) परक कहा है, तो किसी ने केवल कर्म (प्रवृत्ति) परक कहा है। कोई ज्ञान कर्म समुच्चय में इसके तात्पर्य को कहते हैं तो कोई भक्तिपरक भी। अब इस पर हम क्रमशः विचार करेंगे।

यह एक सर्वसुविदित बात है कि महाभारत के युद्धारम्भ में धर्माधर्मबुद्धि से व्याकुल अर्जुन युद्ध से जब उदासीन होकर बैठ जाता है, तब भगवान् श्रीकृष्ण ने उपदेश देकर युद्ध के लिए उसको प्रवृत्त किया। इससे सभी को मानना पड़ेगा की गीता का तात्पर्य कर्म (प्रवृत्ति) में है निवृत्ति में नहीं। किन्तु गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में··· 'इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे' ऐसे विशेषण दिये हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि गीता 'उपनिषद्' है 'योगशास्त्र' है और 'ब्रह्मविद्या भी है। 'ब्रह्मविद्या' और 'उपनिषद्' इन दो विशेषणों से यह अनायास ही समझा जा सकता है कि गीता का तात्पर्य केवल प्रवृति (कर्म) में नहीं निवृत्ति में ही है। उपनिषदों का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तात्पर्य अनन्तगुण ऐश्वर्यादिसम्पन्न श्रीपरब्रह्म में ही है। 'ब्रह्मविद्या' यह विशेषण और भी स्पष्टभाव से इसको व्यक्त करता हैं। और 'योगशास्त्र' यह तीसरा विशेषण भी स्पष्ट कह रहा है कि गीता प्रवृत्तिपरक नहीं, किन्तु निवृत्तिपरक है। 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' चित्तवृत्ति का निरोध ही योग है इस पातञ्जल योगसूत्र के अनुसार, योग में प्रवृत्ति प्रतिकूल जौर निवृत्ति अनुकूल होने से निवृत्ति में ही इसका तात्पर्य मानना होगा।

गीता योगशास्त्र है, यह योग-कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग इस प्रकार तीन प्रकार का है। ये तीनों परस्पर निरपेक्ष नहीं है किन्तु, भगवत्तत्त्व के साक्षात्कार के ये असाधारण तथा अभिन्न साधन हैं। भगवत्तत्त्व के साक्षात्कार के लिए जो कर्म करने पड़ते हैं वे यदि ज्ञान और भक्ति से निरपेक्ष हो, तो फलप्रद नहीं होते। एवं कर्मनिरपेक्ष ज्ञान तथा भक्ति भी सफल नहीं हो सकते! इस प्रकार महर्षिसम्मत साधन तत्त्व के विषय में गीता का असाधारण वैशिष्ट्य होने से यह 'उपनिषद्' ब्रह्मविद्या तथा 'योगशास्त्र' तीनों है।

गीता के निवृत्तिमार्ग में कर्म का परित्याग नहीं है, किन्तु फल के सङ्कल्प का पूर्णतया त्याग करते हुए कर्त्तव्य कर्म का आदेश दिया गया है। इस प्रकार तो-ज्ञानी, भक्त एवं कर्मनिष्ठ-सभी को कर्म करना पड़ेगा। जब तक देहाध्यास विद्यमान है, तब तक कर्म को किये बिना भगवत्तत्त्व के साक्षात्कार के लिए दूसरा कोई उपाय ही नहीं है। इसीलिए तो भगवान् ने कहा है कि--

"सुखदुःखे समे कृत्वा लाभाऽलाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि" ॥ २–३८ ॥
"सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः" ॥ १८–५६ ॥
"मां ध्यायस्व उपासते"। १२। ६। "तेषामहं समुद्धर्ता"। १२। ७।
"नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्"···। ५। ८–१०।
"तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च"।

अर्जुन! इसलिए सर्वदा मेरा स्मरण करो तथा युद्ध करो। महाभारत का युद्ध तो अठारह दिन में ही समाप्त हो गया था, किन्तु यह वाक्य तो इसके साथ-साथ जीवनव्यापी युद्ध का निर्देश भी करता है।

श्रीमद्भगवद्गीता का प्रमुख पतिपाद्य कर्मयोग है। इस कर्मयोग का मुख्य प्रयोजन है आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति के साथ-साथ प्रत्येक मनुष्य की ब्राह्मीस्थिति को प्राप्त कराना। इस मुख्य प्रयोजन को प्राप्त करने का एकमात्र साधन है कर्तृत्वाभिमान का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्याग करते हुए, सर्वकर्मों के अनुष्ठान के समय श्रीभगवान् की शरणागति। यही बात अठारहवे अध्याय के अन्त में उपसंहार के समय श्रीभगवान्ने परमभक्त अर्जुन को बतलायी है।

"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः। तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।"

परमकल्याण की प्राप्ति के साधनभूत कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोगरूप सर्वधर्मों को मेरी आराधना के रूप में करते रहो, और उन्हें करते-करते ही मेरी बतलाई रीति से फल, कर्म और कर्तृत्व के त्याग के द्वारा सभी का त्याग करके मुझे एक को ही आराध्यदेव समझ करके मेरी शरण में आओ, मैं तुम्हें सभी पापों से छुड़ा दूँगा, शोक मत करो। उन्हें ही सर्वतोभाव से शरण और रक्षक के रूप में स्वीकार करो।

उपर्युक्त वाक्य में भगवान् ने शरणागति के लिए आह्वान किया है। जिस शरणागति का दूसरा नाम प्रपत्ति है, जो एक सुगम उपाय है। भगवान् को मिलने के लिए प्रबल व्यग्रता को प्रपत्ति कहते हैं। जिसने प्रपत्ति को स्वीकार किया उसको प्रपन्न कहा जाता है। अब भक्त और प्रपन्न इसमें क्या अन्तर है वह स्पष्ट किया जाता है। भक्त सोचता है कि भगवान् मेरे हैं, अत एव भगवान् की सेवा का भार मेरे ऊपर है। मुझे छोड़कर दूसरा कोई सेवा नहीं कर सकेगा। प्रपन्न समझता है कि मैं भगवान् का हूँ अतएव मेरी तथा मेरी भक्ति का भार भगवान् के ऊपर है। 'भक्त' की उपमा बंदर के बच्चे से तथा 'प्रपन्न' की उपमा बिल्ली के बच्चे से दी जा सकती है। बंदर का बच्चा स्वयं माँ को पकड़े हुए हैं, उसकी चिंता उसकी माँ को नहीं है, किन्तु बिल्ली का बच्चा तो एक स्थान पर पड़ा रहता है। उसको दूसरी जगह बिल्ली ही ले जाती है। 'प्रपन्न' की भक्ति के निर्वाह का भार भगवान् के ऊपर होता है। 'प्रपत्ति' के दो भेद है 'शरणागति' और 'आत्मसमर्पण'। भक्ति का करना भक्त के अधीन है किन्तु 'प्रपत्ति' का होना ईश्वर के अधीन है। वाल्मीकि रामायण में भगवान् श्रीरामचन्द्रजी ने भीः—

सकृदेव प्रपन्नाय तवाऽस्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥
"भगवन्! मैं आपका हूं" कहकर शरण में आनेवाले के लिए 'अभय दान' देने का अपना व्रत दिखाया है। "आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्" के अनुसार पतिव्रता की तरह अपने उपास्य भगवान् के अनुकूल रहते हुए 'प्रपन्न' प्रतिकूलता का सर्वथा त्याग करता है। शरणागति में अनन्य एवं अकिञ्चन भाव मुख्य रहते हैं। एवं च अहंभाव का सर्वथा त्याग रहता है। जो शरीर, मन और प्राण अपना सब कुछ भगवान् को अर्पण कर सकता है, वही 'प्रपन्न' भक्त है। आत्मसमर्पण में ममत्व का अत्यन्त त्याग करना पड़ता है। आत्मसमर्पण के बाद भगवत्सेवा के बिना उस भक्त के लिए कुछ बचता नहीं है, अपने मन, वचन एवं शरीर जब हमने भगवान् को अर्पण कर दिया, तब उनका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भगवान् चाहे जो करे। उसको तो भगवान् की आज्ञानुसार सत्कर्म एवं भगवान् की सेवा में ही लगा सकता है।

भगवान् श्रीकृष्णने गीता का उपदेश देते हुए साररूप वाक्य से शरण में बुलाया, तब अर्जुन ने भी सभी शंका-भय एवं विरुद्ध विचारों को छोड़ करके शरणागति स्वीकार करली, वह प्रपन्न हो गया। अन्त में भगवान् ने "कच्चिदेतत् श्रुतं पार्थ !" 'क्या पार्थ ! तुमने सुना ?' इस प्रकार पूछा, तब अर्जुन ने उत्तर दिया कि:—नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत ! स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥

अब मैं निःसंदेह आपकी आज्ञा के अनुसार करूँगा। इत्यादि....

इससे सिद्ध हो जाता है कि भगवद्गीता का तत्त्व या तात्पर्य भगवद्भक्ति है। भगवद्गीता का तत्त्व यदि भगवान् श्रीकृष्ण हैं, तो वह भी भजने के लिए है। और गीता का तात्पर्य यदि भगवद्भक्तिपरक है, तो वह भी श्रीकृष्णभक्ति का प्रचार करने के लिए है।

प्रस्तुत गीता का संस्करण वडताल (गुजरात) की गद्दी के सनातन धर्मधुरंधर आचार्य महाराज श्रीविहारिलाल जी महाराजकृत "अन्वयार्थदीपिका" के साथ प्रकाशित किया जा रहा है। जो गीताप्रेमी सज्जनों को टीका के सहारे गीता के रहस्य को समझने में उपयोगी होगा।

इस व्याख्या के साथ गीता के प्रकाशक मेरे शिष्य शास्त्री हरिप्रकाश ने मुझे आग्रह करके श्रीमद्भगवद्गीता की प्रस्तावना लिखने को कहा, हिन्दी लिखने का अभ्यास कम होने पर भी मैंने उसकी इच्छानुसार हिन्दी लिखने का प्रयास किया है। मुझे विश्वास है कि यह सर्वोपयोगी एवं सर्वग्राह्य होगा। इति शुभम्।

स. पुराणी स्वामी हरिप्रियदास,
श्रीस्वामिनारायण मन्दिर
गढडा, जि० भावनगर (गुजरात)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ श्रीमद्भगवद्गीतामाहात्म्यम्

ऋषिरुवाच

गीतायाश्चैव माहात्म्यं यथावत्सूत मे वद। पुराणमुनिना प्रोक्तं व्यासेन श्रुतिनोदितम्।

सूत उवाच

पृष्टं वै भवता यत्तन्महद्गोप्यं पुरातनम्। न केन शक्यते वक्तुं गीतामाहात्म्यमुत्तमम्॥
कृष्णो जानाति वै सम्यक्किंचित्कौंतेय एव च। व्यासो वा व्यासपुत्रो वा याज्ञवल्क्योऽथमैथिलः
अन्ये श्रवणतः श्रुत्वा लोके संकीर्तयंति च। तस्मात्किंचिद्वदाम्यद्य व्यासस्यास्यान्मयाश्रुतम्॥
सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनंदनः। पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥५॥
सारथ्यमर्जुनस्यादौ कुर्वन् गीतामृतं ददौ। सर्वलोकोपकारार्थं तस्मै कृष्णाय ते नमः॥
संसारसागरं घोरं तर्तुमिच्छति यो जनः। गीतानावं समारुह्य परं यातु सुखेन सः॥
गीताज्ञानं श्रुतं नैव सदैवाभ्यासयोगतः। मोक्षमिच्छति मूढात्मा याति बालकहास्यताम्॥
ये श्रृण्वंति पठंत्येव गीताशास्त्रमहर्निशम्। न ते वै मानुषा ज्ञेया देवा एव न संशयः॥
गीताज्ञानेन संबोध्य कृष्णः प्राह तमर्जुनम्। अष्टादशपदस्थानं गीताध्याये प्रतिष्ठितम्॥१०॥
मोक्षस्थानं परं पार्थ सगुणं वाथ निर्गुणम्। सोपानाष्टादशैरेवं परं ब्रह्माधिगच्छति॥
मलनिर्मोचनं पुंसां जलस्नानं दिने दिने। सकृद्गीतांभसि स्नानं संसारमलनाशनम्॥
गीताशास्त्रस्य जानाति पठनं नैव पाठनम्। परस्मान्न श्रुतं ज्ञानं नैव श्रद्धा न भावना॥
स एव मानुषे लोके पुरुषो विड्वराहकः। यस्माद्गीतां न जानाति नाधमस्तत्परो जनः॥
धिक्तस्य मानुषं देहं धिग्ज्ञानं धिक्कुलीनताम्। गीतार्थं न विजानाति नाधमस्तत्परो जनः॥१५॥
धिक्सुरूपं शुभं शीलं विभवं सद्गृहाश्रमम्। गीताशास्त्रं न जानाति नाधमस्तत्परो जनः॥
धिक्प्रागल्भ्यं प्रतिष्ठां च पूजां मानं महात्मताम्। गीताशास्त्रे रतिर्नास्ति तत्सर्वं निष्फलं जगुः॥
धिक् तस्य ज्ञानमाचारं व्रतं चेष्टां तपो यशः। गीतार्थपठनं नास्ति नाधमस्तत्परो जनः॥
गीतागीतं न यज्ज्ञानं तद्विद्ध्यासुरसंज्ञकम्। तन्मोघं धर्मरहितं वेदवेदांतगर्हितम्॥
यस्माद्धर्ममयी गीता सर्वज्ञानप्रयोजिका। सर्वशास्त्रमयी गीता तस्माद्गीता विशिष्यते॥२०॥
योऽधीते सततं गीतां दिवा रात्रौ यथार्थतः। स्वपन्गच्छन्वदंस्तिष्ठन् शाश्वतं मोक्षमाप्नुयात्॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शालिग्रामशिलाग्रे तु देवागारे शिवालये। तीर्थे नद्यां पठेद्यस्तु वैकुण्ठं याति निश्चितम् ॥
देवकीनंदनः कृष्णो गीतापाठेन तुष्यति। यथा न वेदैर्दानैश्च यज्ञतीर्थव्रतादिभिः ॥
गीताऽधीता च येनापि भक्तिभावेन चेतसा। तेन वेदाश्च शास्त्राणि पुराणानि च सर्वशः ॥
योगिस्थाने सिद्धपीठे शिष्टाग्रे सत्सभासु च। यज्ञे च विष्णुभक्ताग्रे पठन्याति परां गतिम् ॥२५॥
गीतापाठं च श्रवणं यः करोति दिने दिने। क्रतवो वाजिमेधाद्याः कृतास्तेन सदक्षिणाः ॥
यः शृणोति च गीतार्थं कीर्तयेच्च स्वयं पुमान्। श्रावयेच्च परार्थं वै स प्रयाति परं पदम् ॥
गीतायाः पुस्तकं नित्यं योऽर्चयत्येष सादरम्। विधिना भक्तिभावेन तस्य पुण्यफलं शृणु ॥
सकला चोर्वरा तेन दत्ता यज्ञे भवेत्किल। व्रतानि सर्वतीर्थानि दानानि सुबहून्यपि ॥
भूतप्रेतपिशाचाद्यास्तत्र नो प्रविशंति वै। अभिचारोद्भवं दुःखं परेणापि कृतं च यत् ॥३०॥
नोपसर्पंति तत्रैव यत्र गीतार्चनं गृहम्। तापत्रयोद्भवा पीडा नैव व्याधिभयं तथा ॥
न शापो नैव पापं च दुर्गतिं न च किंचन। देहेऽस्य षडेते वै न बाधंते कदाचन ॥
भगवत्परमेशाने भक्तिरव्यभिचारिणी। जायते सततं तत्र यत्र गीताभिनंदनम् ॥
प्रारब्धं भुज्यमानोऽपि गीताभ्यासे सदा रतः। स मुक्तः स सुखी लोके कर्मणा नोपबध्यते ॥
महापापादिपापानि गीताध्यायी करोति चेत्। न किंचित्स्पृशते तस्य नलिनीदलमंभसा ॥३५॥
स्नातो वा यदि वाऽस्नातः शुचिर्वा यदि वाऽशुचिः। विभूतिं विश्वरूपं च संस्मरन्सर्वदा शुचिः ॥
अनाचारोद्भवं पापमवाच्यादि कृतं च यत्। अभक्ष्यभक्षजं दोषमस्पृश्यस्पर्शजं तथा ॥
ज्ञाताज्ञातकृतं नित्यमिंद्रियैर्जनितं च यत्। तत्सर्वं नाशमायाति गीतापाठेन तत्क्षणात् ॥
सर्वत्र प्रतिभोक्ता च प्रतिग्राही च सर्वशः। गीतापाठं प्रकुर्वाणो लिप्यते न कदाचन ॥
रत्नपूर्णां महीं सर्वां प्रगृह्णाति विधानतः। गीतापाठेन चैकेन शुद्धः स्फटिकवत्सदा ॥४०॥
यस्यान्तःकरणं नित्यं गीतायां रमते सदा। सर्वाग्निकः सदा जापी क्रियावान् स च पंडितः ॥
दर्शनीयः स धनवान् स योगी ज्ञानवानपि। स एव याज्ञिको ध्यानी सर्ववेदार्थदर्शकः ॥
गीतायाः पुस्तकं यत्र नित्यं पाठे प्रवर्त्तते। तत्र सर्वाणि तीर्थानि प्रयागादीनि भूतले ॥
निवसंति सदा गेहे देहदेशे सदैव हि। सर्वे देवाश्च ऋषयो योगिनः पन्नगाश्च ये ॥
गोपालबालकृष्णोऽपि नारदध्रुवपार्षदैः। सहायो जायते शीघ्रं यत्र गीता प्रवर्त्तते ॥४५॥
यत्र गीताविचारश्च पठनं पाठनं तथा। तत्राहं निश्चितं पार्थ निवसामि सदैव हि ॥
गीता मे हृदयं पार्थ गीता मे सारमुत्तमम्। गीता मे ज्ञानमत्युग्रं गीता मे ज्ञानमक्षयम् ॥
गीता मे चोत्तमं स्थानं गीता मे परमं गृहम्। गीताज्ञानमुपाश्रित्य त्रिलोकान्पालयाम्यहम् ॥
गीता मे परमा विद्या ब्रह्मरूपा न संशयः। अर्द्धमात्राक्षरा नित्या स्वनिर्वाच्यपदात्मिका ॥
गीतानामानि वक्ष्यामि गुह्यानि शृणु पांडव। कीर्त्तनात्सर्वपापानि विलयं यांति तत्क्षणात् ॥५०॥

॥ अथ गीतानामानि ॥

गीता गंगा च गायत्री सीता सत्या सरस्वती। ब्रह्मविद्या ब्रह्मवल्ली त्रिसंध्या मुक्तगेहिनी ॥
अर्द्धमात्रा चिदानंदा भवघ्नी भयनाशिनी। वेदत्रयी पराऽनंता तत्त्वार्थज्ञानमंजरी ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इत्येतानि जपन्नित्यं नरो निश्चलमानसः। ज्ञानर्द्धिं लभते शीघ्रं तथांते परमं पदम् ॥
पाठेऽसमर्थः संपूर्णे तदर्द्धं पाठमाचरेत्। तदा गोदानजं पुण्यं लभते नात्र संशयः ॥
षडंशं जपमानस्तु गंगास्नानफलं लभेत्। त्रिभागं पठमानस्तु सोमयागफलं लभेत् ॥५५॥
तथाऽध्यायद्वयं नित्यं पठमानो निरंतरम्। इंद्रलोकमवाप्नोति कल्पमेकं वसेद् ध्रुवम् ॥
एकमध्यायकं नित्यं पठते भक्तिसंयुतः। रुद्रलोकमवाप्नोति गणो भूत्वा वसेच्चिरम् ॥
अध्यायार्धं च पादं वा नित्यं यः पठते जनः। स प्राप्नोति रवेर्लोकं मन्वंतरशतं समाः ॥
गीतायाः श्लोकदशकं सप्त पंच चतुष्टयम्। त्रिकद्विकैकमर्द्धं वा श्लोकानां च पठेन्नरः ॥६०॥
चंद्रलोकमवाप्नोति वर्षाणामयुतायुतम्।
गीतार्धमेककालेपि श्लोकमध्यायमेव च। स्मरंस्त्यक्त्वा जनो देहं प्रयाति परमं पदम् ॥
गीतार्थं वापि पाठं वा श्रृणुयादंतकालतः। महापातकयुक्तोऽपि मुक्तिभागी भवेज्जनः ॥
गीतापुस्तकसंयुक्तः प्राणांस्त्यक्त्वा प्रयाति यः। स वैकुण्ठमवाप्नोति विष्णुना सह मोदते ॥
गीताभ्याससमायुक्तो मृतो मानुषतां व्रजेत्। गीताभ्यासं पुनः कृत्वा लभते मुक्तिमुत्तमाम् ॥
गीतोच्चारणसंयुक्तो म्रियमाणो गतिं लभेत्। यद्यत्कर्म च सर्वत्र गीतापाठं प्रकीर्त्तयेत्।
तत्तत्कर्म च निर्दोषं कृत्वा पूर्णमवाप्नुयात्।
पितॄनुद्दिश्य यः श्राद्धे गीतापाठं करोति वै। संतुष्टाः पितरस्तस्य निरयाद्यांति सद्गतिम् ॥६५॥
गीतापाठेन संतुष्टाः पितरः श्राद्धतर्पिताः। पितृलोकं प्रयांत्येव पुत्राशीर्वादतत्पराः ॥
लिखित्वा धारयेत्कंठे बाहुदंडे च मस्तके। नश्यंत्युपद्रवाः सर्वे विघ्नरूपाश्च दारुणाः ॥
गीतापुस्तकदानं च धेनुपुच्छसमन्वितम्। दत्त्वा तस्य द्विजे सम्यक्कृतार्थो जायते जनः ॥
पुस्तकं हेमसंयुक्तं गीतायाः शुद्धमानसः। दत्त्वा विप्राय विदुषे जायते न पुनर्भवे ॥
शतपुस्तकदानं च गीतायाः प्रकरोति यः। स याति ब्रह्मसदनं पुनरावृत्तिवर्जितम् ॥७०॥
गीतादानप्रभावेण सप्तकल्पावधिः समाः। विष्णुलोकमवाप्नोति विष्णुना सह मोदते ॥
सम्यक् श्रुत्वा च गीतार्थं पुस्तकं यः प्रदापयेत्। तस्मै प्रीतोस्मि भगवान् ददामि मनसेप्सितम्।
देहं मानुषमाश्रित्य चातुर्वर्ण्येषु भारत। न श्रृणोति पठत्येव गीताममृतरूपिणीम् ॥
हस्तात्त्यक्त्वामृतं प्राप्तं कष्टात्क्ष्वेडंसमश्नुते। पीत्वा गीतामृतं लोके लब्ध्वा मोक्षं सुखी भवेत् ॥
जनैः संसारदुःखार्तैर्गीताज्ञानं च यैः श्रुतम्। संप्राप्तममृतं तैश्च गतास्ते सदनं हरेः ॥७५॥
गीतामाश्रित्य बहवो भूभुजो जनकादयः। निर्धूतकल्मषा लोके गतास्ते परमं पदम् ॥
गीतासु न विशेषोस्ति जनेषूच्चावचेषु च। ज्ञानेष्वेव समग्रेषु समा ब्रह्मस्वरूपिणी ॥
योऽभ्यसूयति गीतां च निंदां वा प्रकरोति च। प्राप्नोति नरकं घोरं यावदाभूतसंप्लवम् ॥
अहंकारेण मूढात्मा गीतार्थं नैव मन्यते। कुंभीपाके स पच्येत यावत्कल्पक्षयो भवेत् ॥
गीतार्थं वाच्यमानं यो न श्रृणोति समीपतः। स्वसूकरभवां योनिमनेकां सोऽधिगच्छति ॥८०॥
चौर्यं कृत्वा च गीतायाः पुस्तकं यः समानयेत्। न तस्य स्यात्फलं किंचित्पठनं च वृथा भवेत्।
यः श्रुत्वा नैव गीतार्थं मोदते परमादरात्। नैवाप्नोति फलं लोके प्रमादाच्च वृथा श्रमम् ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गीतां श्रुत्वा हिरण्यं च पट्टांबरसुवेष्टनम्। निवेदयेच्च विप्राय प्रीतये परमात्मनः॥
वाचकं पूजयेद्भक्त्या द्रव्यवस्त्राद्युपस्करैः। अनैर्बहुविधैः प्रीत्या तुष्यतां भगवानिति॥
माहात्म्यमेतद्गीतायाः कृष्णप्रोक्तं सनातनम्। गीतांते पठते यस्तु यथोक्तं फलमाप्नुयात्॥८५॥
गीतायाः पठनं कृत्वा माहात्म्यं नैव यः पठेत्। वृथा पाठफलं तस्य श्रम एव हि केवलम्॥
एतन्माहात्म्यसंयुक्तं गीतापाठं करोति यः। श्रद्धया यः शृणोत्येव दुर्लभां गतिमाप्नुयात्॥
श्रुत्वा पठित्वा गीतां च माहात्म्यं यः शृणोति वै। तस्य पुण्यफलं लोके भवेद्धि मनसेप्सितम्॥८८॥

इति श्रीमद्वाराहपुराणे सूतशौनकसंवादे श्रीकृष्णप्रोक्तं श्रीमद्भगवद्गीतामाहात्म्यं संपूर्णम्॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रीगीतामंत्रन्यासः

ॐ अस्य श्रीभगवद्गीतामालामंत्रस्य भगवान् वेदव्यास ऋषिः ॥ अनुष्टुप् छन्दः श्रीकृष्णः परमात्मा देवताः ॥ अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे इति बीजम् । सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रजेति शक्तिः ॥ अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः इति कीलकम् । श्रीकृष्णप्रीत्यर्थे पाठे विनियोगः ॥

अथ करन्यासः

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नेनं दहति पावक इत्यंगुष्ठाभ्यां नमः ॥
न चैनं क्लेदयंत्यापो न शोषयति मारुत इति तर्जनीभ्यां नमः ॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योयमक्लेद्योऽशोष्य एव च इति मध्यमाभ्यां नमः ॥
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातन इत्यनामिकाभ्यां नमः ॥
पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः इति कनिष्ठिकाभ्यां नमः ॥
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च इति करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः ॥

अथ हृदयाद्यङ्गन्यासः

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावक इति हृदयाय नमः ॥
न नैनं क्लेदयंन्त्यापो न शोषयति मारुत इति शिरसे स्वाहा ॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च इति शिखायै वषट् ॥
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातन इति कवचाय हुम् ॥
पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रश इति नेत्रत्रयाय वौषट् ॥
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च इति अस्त्राय फट् ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ श्रीभगवद्गीताध्यानम्

ॐ पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयं व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्ये महाभारतम्
अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिनीमम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम् ॥
नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र।
येन त्वया भारततैलपूर्णः प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः ॥ २ ॥
प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये। ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ॥ ३ ॥
सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः। पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीताऽमृतं महत् ॥
वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम्। देवकीपरमानन्दं कृष्णं वंदे जगद्गुरुम् ॥ ५ ॥
भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला गांधारनिलोत्पला शल्यग्राहवती कृपेण वहनी कर्णेन वेलाकुला।
अश्वत्थामविकर्णघोरमकरा दुर्योधनावर्तिनी सोत्तीर्णा खलु पाण्डवै रणनदी कैवर्त्तकः केशवः ॥
पाराशर्य्यवचःसरोजममलं गीतार्थगन्धोत्कटं नानाख्यानककेसरं हरिकथासम्बोधनाबोधितम्।
लोके सज्जनषट्पदैरहरहः पेपीयमानं मुदा। भूयाद्भारतपङ्कजं कलिमलप्रध्वंसिनः श्रेयसे ॥
मूकं करोति वाचालं पंगुं लङ्घयते गिरिम्। यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥ ८ ॥
यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैस्तवैः वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः।
ध्यानाऽवस्थिततद्गतेन मनसा पश्यंति यं योगिनो यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः।

इति ध्यानम्

मंगलाचरणम्

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्। देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥ १ ॥
व्यासं वसिष्ठनप्तारं शक्तेःपौत्रमकल्मषम्। पराशरात्मजं वन्दे शुकतातं तपोनिधिम् ॥ २ ॥
व्यासाय विष्णुरूपाय व्यासरूपाय विष्णवे। नमो वै ब्रह्मविधये वासिष्ठाय नमोनमः ॥ ३ ॥
अचतुर्वदनो ब्रह्मा द्विबाहुरपरो हरिः। अभाललोचनः शम्भुर्भगवान् बादरायणः ॥ ४ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रीस्वामिनारायणाय नमो नमः

सनातन-धर्मधुरंधर-आचार्यश्रीविहारीलालमहाराजविरचिता

अन्वयार्थदीपिकाव्याख्यासमलङ्कृता

श्रीमद्भगवद्गीता

प्रथमोऽध्यायः

श्रीजुष्टाखिलधामशीर्षमुकुटब्रह्मालयाधिष्ठितं
श्रीमत्प्रेमवतीवृषात्मजमहं वंदे मदिष्टप्रदम् ।
श्रीराधोत्तमनित्यमुक्तनिकरैः प्रेम्णाऽर्चितांघ्रिद्वयं
तं साक्षादवतारिणं च सहजानंदं ममानंददम् ॥ १ ॥
ध्यायेऽहं करुणागारं सर्वकारणकारणम् ।
स्वामिनारायणं कृष्णं धार्मिं श्रीपुरुषोत्तमम् ॥ २ ॥
परमात्मा परंब्रह्म नारायणमुनिर्हरिः ।
हरिकृष्णोऽस्तु सत्प्रेष्टो मन्मनोरथसिद्धिदः ॥ ३ ॥
मम पितामहं वंदे पितरं सकलान्हरेः ।
भक्तांस्त्यागिगृहिणश्च सहायास्ते भवंतु मे ॥ ४ ॥
सर्वशास्त्रमयी गीताऽस्त्येकांतधर्मसंभृता ।
अष्टादशाध्यायरूपा भगवद्भक्तवल्लभा ॥ ५ ॥
अस्याष्टीकां श्रीभगवत्प्रसादाचार्यदायभाक् ।
विहारिलालाचार्योऽहं कुर्वेऽन्वयार्थदीपिकाम् ॥ ६ ॥
प्रेरणां यैवमत्स्वांते श्रीहरेरंतरात्मनः ।
मद्बोधायैव कुर्वेतां पांडित्यज्ञप्तये न तु ॥ ७ ॥
महामुक्तैश्च गोपालानंदाद्यैः सद्गुरूत्तमैः ।
क्षुण्णाध्वानमनुसृत्य लिखाम्येतां यथामति ॥ ८ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अस्यां प्रथमेनार्जुनविषादयोग इरितः ।
सांख्ययोगो द्वितीयेन कर्मयोगस्तृतीयतः ॥ ९ ॥
ज्ञानयोगश्चतुर्थेन गदितः पंचमेन तु ।
कर्मसंन्यासयोगश्चाभ्यासयोगो हि षष्ठतः ॥ १० ॥
परमहंसविज्ञानयोगश्च सप्तमेन वै ।
अष्टमेनाक्षरपरब्रह्मयोग उदीरितः ॥ ११ ॥
राजविद्या राजगुह्ययोगोऽथ नवमेन च ।
विभूतिविस्तारयोगो दशमेन समाहृतः ॥ १२ ॥
विश्वरूपदर्शनात्मयोग एकादशेन च ।
भक्तियोगोऽथ द्वादशाध्यायेन हरिणोदितः ॥ १३ ॥
क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगस्त्रयोदशेन वै ।
गुणत्रयविभागात्मयोगश्चतुर्दशेन च ॥ १४ ॥
पंचदशेन पुरुषोत्तमयोगः किलोदितः ।
षोडशेन दैवासुरसंपद्विभागयोगकः ॥ १५ ॥
श्रद्धात्रयविभागात्मयोगः सप्तदशेन च ।
मोक्षोपदेशयोगश्चाष्टादशेन समीरितः ॥ १६ ॥
द्विनवयोगमाणिक्यमंजूषैवमियं दृढा ।
भगवत्तत्साधुकृपाकुंच्यैवोद्घाट्यते मया ॥ १७ ॥
यः श्रीहरिः करुणया सहजं च यादृक् तादृग्जनान्स्वमनसेक्षणमात्रतो वा ।
स्वस्मिन्समाधिमवनौ समकारयद्वाग्बुद्धिं ददातु सुभगां भगवान् स मह्यम् ॥१८॥
जडं करोति सर्वज्ञं नीचं प्रापयते दिवम् ।
यत्कृपा तानहं वंदे श्रीहरिं च सतोऽखिलान् ॥ १९ ॥
अर्जुनविषादयोगकथनाय समासतः ।
युद्धारंभः कुरुक्षेत्रे प्रथमेऽध्याय ईर्यते ॥ २० ॥

पुरा किल स्वस्वांशेन राजसूत्पन्नदैत्यानां पापात्मकसैन्यभारपीडिताऽवनिर्गौरूपं धृत्वा ब्रह्माणं शरणं जगाम । तैर्दैत्यैः स्वस्याः स्वस्यां निवासिनां सतां चार्पितं दुःखं तस्मै विधये जगाद ततस्तद्दुःखवारणाकल्पो ब्रह्मा शंकरेंद्रादिदेवैः सह क्षीरसागरोत्तरतटं गत्वा तत्रोपविश्यैकाग्रचेतसा श्वेतद्वीपपतिं श्रीवासुदेवं दध्यौ । भूमिभारभूतासुरनाशनेन तद्भारावताराय प्रार्थयामास च ततः श्रीवासुदेवनारायणश्चादृश्यरूपेण ब्रह्माणं प्रत्युवाच द्वापरकलिसंध्यवसानेऽहं दैत्यानां विनाशाय देवसाधुगोब्राह्मणानां तेभ्यो रक्षणेन सुखकरणार्थं सज्जनेषु धर्मस्थापनार्थं च नरनारायणरूपेण यदुकुरुकुलयोः प्राकट्यतां प्राप्स्यामि सर्वे देवा ऋषयश्च स्वस्वस्त्रीभिः स्वस्वांशेन मत्सेवायै मनुष्यलोके जन्म बिभ्रत्वेवं श्रीवासुदेवो भगवानुवाच

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ततोऽनंतरं सर्वे देवादयः स्वस्वनिकेतनं गत्वा भूमौ यथायोग्यमवतरंति स श्रीश्वेतद्वीपपतिः श्रीवासुदेवश्च श्रीनारायणर्षिरूपेण मथुरायां वसुदेवात्तत्पन्यां देवक्यां प्रादुर्बभूव । तथैव स एव श्रीवासुदेवो नरर्षिरूपेणेंद्रात्कुंत्यां प्रादुरासतावेव श्रीकृष्णार्जुनाविति प्रसिद्धावास्तां स श्रीकृष्णश्च पूतनां कंसादिदैत्यान्हत्वा द्वारिकायां रुक्मिण्यादिकन्याः परिणीयोद्धवादिपार्षदसहितो विरराजत च राजा युधिष्ठिरो राजसूयमखेऽग्रपूज्यतया पुपूजसोऽपि सकलराज्ञां मूर्धसु पदं निधाय तदर्पितार्हणं स्वीचकार तस्मिन्यज्ञे युधिष्ठिराय खंडभूपार्पितभूरिधनसमृद्धिं दुर्योधनो दृष्ट्वा मनस्यतितापं प्राप्य तां हर्तुमिच्छया स्वमातुलशकुनिं प्रार्थयत्स च कपटद्युतात्मकाधर्मेण युधिष्ठिरं जित्वा तस्य धनसंपत्तिं च राज्यं च छलेनाछिद्य दुर्योधनाय प्रादत्सस्त्रीकास्ते पांडुपुत्राश्च प्रतिज्ञया बद्धाः संतो द्वादशवर्षाणि वने स्थित्वैकवर्षं विराटनगरे गुप्तमुषित्वा च स्वपुरमिंद्रप्रस्थमागत्य दुर्योधनात्स्वराज्यभागग्रहणे सहायार्थं स्वस्य संबंधिनो मित्राणि च स्वगृहमाह्वापयंस्ततो युधिष्ठिरः सर्वैस्तैः सह विचार्य श्रीकृष्णं हास्तिनपुरं प्रैषयत्स च कौरवसभामध्ये दुर्योधनं युधिष्ठिराय राज्यभागं देहीति न्यायेनोवाच तदा स च युद्धमंतरा सूच्यग्रमितामपि भुवं युधिष्ठिराय नैव दास्यामीति प्राहाथ श्रीकृष्ण इंद्रप्रस्थमागत्य युधिष्ठिरादींस्तद्वृत्तांतमाहाथ च युधिष्ठिरो युद्धकरणनिश्चयं कृत्वा द्रुपदराज-सात्यकि-प्रभृति-स्वसंबंधिभूपैः सह कुरुक्षेत्रं जगाम । दुर्योधनश्च भीष्म-द्रोण-कर्णादि-स्वसहायैः सह तत्क्षेत्रं प्रायादथैकादशाक्षौहिणीसैन्यैः सह दुर्योधनः सप्ताक्षौहिणीसैन्यैः सह युधिष्ठिरश्च योद्धुं सज्जौ बभूवतुस्तस्मिन्युद्धे श्रीकृष्णश्च स्वैकांतिकभक्तपांडवजयार्थं नीतिविचारवक्ता मंत्री बभूव । स चार्जुने स्नेहाधिक्येन परवशः संस्तस्य सारथिरभवदेवं पांडवकौरवयुद्धकथां बादरायणशिष्यो वैशंपायनमुनिर्जन्मेजयनृपतिं वदन् व्यासप्रसादात्प्राप्तदूरदर्शनात्मकसिद्धिं संजयं प्रति धृतराष्ट्रस्य प्रथममवतारयति धृतराष्ट्र उवाचेति ।

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पांडवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

धर्मक्षेत्र इति । हे संजय । धर्मस्य देवयजनरूपस्य सुकृतस्य क्षेत्रं स्थानं तस्मिन् । कुरुक्षेत्रे । समवेता मिलिताः । युयुत्सवो योद्धुमिच्छावंत एव निश्चयार्थप्रयोगेण युद्धान्येच्छारहिता इत्यर्थः । मामका मम पुत्रा दुर्योधनादयः । पांडवाः पांडुपुत्रा युधिष्ठिरादयश्च किमकुर्वत किं कुर्वंतिस्म ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—सञ्जय ! धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से एकत्रित मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया ? ॥ १ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पांडवानीक व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

धृतराष्ट्रेणैवं पृष्टः संजय उवाच दृष्ट्वेति। हे धृतराष्ट्र। तदा युद्धावसरे। राजा दुर्योधनः। व्यूढं धृष्टद्युम्नादिभिः शकटव्यूहादिव्यूहरचनया रचितम्। युद्धयोग्यं कृतमित्यर्थः। पांडवानामनीकं सैन्यम्। दृष्ट्वा। आचार्यं धनुर्विद्याऽध्यापकं द्रोणाचार्यम्। उपसंगम्य समीपं गत्वा। वचनम्। अब्रवीत् ॥ २ ॥

संजय ने कहा—उस समय राजा दुर्योधन ने व्यूहाकार में खड़ी हुई पाण्डवों की सेना को देखकर द्रोणाचार्य के समीप जाकर कहा—॥ २ ॥

पश्यैतां पांडुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

तद्वचनमाह नवभिः पश्येति—हे आचार्य। तव शिष्येण त्वदधीतविद्येन। अत एव। धीमता व्यूहरचनायां कुशलेन। द्रुपदपुत्रेण धृष्टद्युम्नेन। व्यूढां व्यूहरचनया स्थापिताम्। महतीं शत्रुभिरपराभवनीयत्वादुत्कृष्टाम्। पांडुपुत्राणां युधिष्ठिरादीनाम्। एतां भवद्विधानगणय्य निर्भयत्वेन त्वदभिमुखस्थिताम्। चमूं सेनाम्। पश्य त्वं वीक्षस्व ॥ ३ ॥

आचार्य ! पाण्डु पुत्रों की इस महान् सेना को आप देखिये, जो आपके बुद्धिमान् शिष्य धृष्टद्युम्न द्वारा व्यूहाकार में खड़ी की गयी है ॥ ३ ॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥

अत्रेति। अत्रास्यां सेनायाम्। इषवो बाणा अस्यंते क्षिप्यंते एभिरितीष्वासा धनूंषि महांत इष्वासा येषां ते। युधि युद्धे। भीमश्चार्जुनश्च ताभ्यां समाः सदृशपराक्रमाः। शूरा बहवो वीरा भवंतीत्यर्थः। तेषु कांश्चिन्नामभिर्निर्दिशति। महारथो महारथेत्यचर्मसंज्ञां दधानः। युयुधानः सात्यकिः। विराट एतन्नामा राजा। द्रुपदो द्रौपदीपिता च। महारथलक्षणमुक्तम्। 'एकादशसहस्राणि योधयेद्यस्त्वधन्विनाम्। शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः' ॥ ४ ॥

इस सेना में भीम और अर्जुन के समान ही युद्धकुशल महाधनुर्धर शूरवीर हैं—युयुधान, विराट, महारथी द्रुपद ॥ ४ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशीराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुंतिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ॥ ५ ॥

धृष्टकेतुरिति । वीर्यवान्पराक्रमी । धृष्टकेतुः । चेकितानः । काशीराजश्च । नरेषु पुंगवः श्रेष्ठः । पुरुजित् । कुंतिभोजः । शैब्यश्च ॥ ५ ॥

धृष्टकेतु, चेकितान, वीर्यवान् काशिराज, पुरुजित्, कुन्तिभोज, नरश्रेष्ठ शैब्य ॥ ५ ॥

युधामन्युश्च विक्रांत उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

युधामन्युरिति । विक्रांतः पराक्रमवान् । युधामन्युः । वीर्यवान् । उत्तमौजा एतन्नामा राजा । सौभद्रः सुभद्रासुतोऽभिमन्युश्च । द्रौपदेया द्रौपद्यां पांडवेभ्य उत्पन्नाः प्रतिविंध्याद्याः पंचपुत्राश्च । चकारादन्येऽपि पांड्यराजादयो ज्ञेयाः । सर्व एव महारथाः सर्वेऽपि महारथसंज्ञा एव नैकोऽपि न्यूनः ॥ ६ ॥

महापराक्रमी युधामन्यु, वलवान् उत्तमोजा, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु और द्रौपदी के (पाँचों) पुत्र—ये सभी महारथी हैं ॥ ६ ॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

अस्माकमिति । हे द्विजोत्तम । अस्माकं तु । अस्मत्सेनायामित्यर्थः । ये । विशिष्टाः श्रेष्ठाः संतीति शेषः तान् । निबोध मत्तो जानीहि । तदेव प्रतिज्ञापूर्वकमाह । मम । सैन्यस्य । ये । नायका नेतारो मुख्याः संतीत्यर्थः । तान् । संज्ञार्थं सम्यग् ज्ञातुम् । ते तुभ्यम् । अहम् । ब्रवीमि ॥ ७ ॥

द्विजोत्तम ! अब आप हमारी सेना के भी जो विशिष्ट (योद्धा) हैं, उनको जान लीजिये । जो मेरी सेना के नायक हैं, उनको मैं आपकी जानकारी के लिये बतलाता हूँ ॥ ७ ॥

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥

तानेवाह द्वाभ्याम् । भवानिति । समितिं संग्रामं जयतीति तथोक्तः । भवान् द्रोणनामा त्वम् । भीष्मः । कर्णः । कृपः कृपाचार्यः । अश्वत्थामा भवत्पुत्रः । विकर्णो मम कनिष्ठभ्राता च । तथैव । सौमदत्तिः । सोमदत्तपुत्रो भूरिश्रवाः । अत्र सर्वत्र च सर्वे योद्धारः विस्तरभयान्न लिखिताः ॥ ८ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आप स्वयं, भीष्म, कर्ण, रणविजयी कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण और वैसे ही सोमदत्त के पुत्र भूरिश्रवा ॥ ८ ॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

अन्ये चेति । अन्ये च शल्यकृतवर्माद्या उक्तेतरेऽपि । बहवः । शूराः । मदर्थे । त्यक्तजीविता जीवितं त्यक्तुमध्यवसिता इत्यर्थः । नानाऽनेकविधानि यानि शस्त्राणि तेषां प्रहरणं प्रहारकरणसामर्थ्यं येषां ते । सर्वे । युद्धे विशारदाः कुशलाश्च संति ॥ ९ ॥

(इनके अतिरिक्त) और भी बहुत-से शूरवीर हैं, जिन्होंने मेरे लिये जीवन समर्पण कर दिया है। ये सभी विविध शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित और युद्ध-कला में प्रवीण हैं ॥ ९ ॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥

नन्वत्र किं वक्तव्यमित्यत्राह । अपर्याप्तमिति । तत्पूर्वोक्तभवदादिशूरसहितम् । अस्माकम् । बलं सैन्यम् । भीष्मेणाभिरक्षितमपि । अपर्याप्तं पांडवसैन्येन समं युद्धं कर्तुं समर्थं न भाति । भीमेनाभिरक्षितम् । इदं पूर्वोक्तयुयुधानादिशूरसहितम् । एतेषां पांडवानाम् । बलं तु पर्याप्तं सर्वथा समर्थं भाति । पितामहस्य पक्षद्वये स्नेहयुक्तत्वादस्मत्सैन्यं शत्रुसैन्यं जेतुमसमर्थं वृकोदरस्य त्वेकपक्षे स्नेहाढ्यत्वात्तद्बलं तु समर्थमिति भावः ॥ १० ॥

तथापि भीष्म द्वारा सुरक्षित हमारी सेना अपर्याप्त (पाण्डवों पर विजय प्राप्त करने में असमर्थ) है। परन्तु भीम के द्वारा सुरक्षित इन पाण्डवों की यह सेना पर्याप्त (हम पर विजय पाने में समर्थ) है ॥ १० ॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षंतु भवंतः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

इदानीं भीष्ममुत्साहयितुं द्रोणादिसर्वान्प्रत्याह । अयनेष्विति । भवंतः । सर्वेषु । अयनेषु व्यूहगमनवर्त्मसु । यथाभागं स्वं स्वं रणस्थानमत्यक्त्वा अवस्थिताः संत एवं सर्वे । भीष्ममेव । रक्षंतु अन्यैर्युध्यमानं पृष्ठतः कश्चिद्यथा न हन्यात्तथाऽवंतु । सैन्यपति-भीष्मरक्षणेन सर्वेषां रक्षणं भविष्यतीत्यभिप्रायः ॥ ११ ॥

(इसलिये) सभी मोर्चों पर अपने-अपने स्थानों पर डटे हुए आप लोग सब-के-सब भीष्मपितामह की ही रक्षा करें ॥ ११ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥ १२ ॥

तदेवं किंचिदुदास्तमनसो दुर्योधनस्य बहुमानयुक्तं वाक्यं श्रुत्वा भीष्मः किं कृतवांस्तदाह । तस्येति । कुरुवृद्धः । पितामहो भीष्मः । तस्य दुर्योधनस्य । हर्षमुत्साहम् । संजनयन्सन् । उच्चैरुच्चस्वरेण सिंहनादम् । विनद्य कृत्वा । प्रतापवान्स्वप्रतापं ज्ञापयन्सन्नित्यर्थः । शङ्खम् । दध्मौ वादितवान् ॥ १२ ॥

(इस प्रकार खिन्नचित्त) उस दुर्योधन के मन में हर्ष उत्पन्न करने के लिये कुरुकुलवृद्ध प्रतापी पितामह भीष्म ने सिंह के समान ऊँचे स्वर से गरज कर शङ्ख बजाया ॥ १२ ॥

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यंत स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १३ ॥

तदेवं भीष्मस्य युद्धोत्साहमालक्ष्य सर्वेषां हर्षो जात इत्याह । तत इति । ततोभीष्मकृतशंखनादानंतरम् । शंखाः । भेर्यः । पणवाश्च आनकाश्च गोमुखावाद्यविशेषाश्च ते । सहसैव तस्मिन्नेव क्षणे । अभ्यहन्यंत वादिताः । सः । शब्दः । तुमुलो महान् । अभवत् ॥ १३ ॥

फिर (सारी सेना में) एक ही साथ बहुत से शङ्ख, नगारे, ढोल, मृदंग और रणसिंहे बज उठे, उनका वह शब्द बहुत ही ऊँचा हुआ ॥ १३ ॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यंदने स्थितौ ।
माधवः पांडवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥

अथ पांडवसैन्ये प्रवृत्तयुद्धोत्साहमाह पंचभिः । तत इति । ततोऽनंतरम् । श्वेतैः । हयैरश्वैः । युक्ते । महति समग्रयुद्धसामग्रीपरिपूर्णे । स्यंदने रथे । स्थितौ रणोत्साहाद्व्यत्वास्थितवदुपविष्टौ । माधवः सारथित्वं ज्ञापयल्लक्ष्मीपतिः श्रीकृष्णः । रथित्वेनोपविष्टः पांडुपुत्रोऽर्जुनश्च तौ द्वावित्यर्थः । दिव्यावेव । नृनाव्ये स्वीकृतेऽपि सदा तयोर्दिव्यरूपत्वात्तत्संबंधेन शंखयोरपि दिव्यत्वमित्येवकारार्थः । शंखौ । प्रदध्मतुः प्रकर्षेण नादयामासतुः ॥ १४ ॥

तदनन्तर श्वेत घोड़ों से युक्त महान् रथपर विराजमान श्रीकृष्णचन्द्र और अर्जुन दोनों ने (अपने) दिव्य शङ्खों को बजाया ॥ १४ ॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौंड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नामभिस्तद्व्यक्तिं दर्शयन्नाह । पांचजन्यमिति । हृषीकाणां सर्वेन्द्रियाणामीशः स्वामी साक्षितया नियंता श्रीकृष्णः । पांचजन्यमेतदाख्यं शंखम् । धनंजयोऽर्जुनः । देवदत्तमेतदाख्यशंखम् । भीमं भीतिजनकं कर्म यस्य सः । वृको वैश्वानराग्निर्विशेषतयोदरे यस्य स भीमश्च । पौंड्रंपौंड्रसंज्ञं महाशंखम् । दध्मौ ध्वनयामास ॥ १५ ॥

हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्ण ने (अपने) पाञ्चजन्य नामक शङ्ख को, धनञ्जय अर्जुन ने देवदत्त नामक शङ्ख को तथा भयानक कर्म करनेवाले भीमसेन ने पौण्ड्र नामक महाशङ्ख को बजाया ॥ १५ ॥

अनंतविजयं राजा कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥

अनंतेति । राजा सर्वसैनिकाधिनियंतृत्वेन राजमानः । कुन्तीपुत्रः । युधिष्ठिरः । अनंतविजयमेतन्नामानम् । शंखं दध्मौ । नकुलः । सहदेवश्च । सुघोषश्च मणिपुष्पकश्च तावेतन्नामानौ शंखौ दध्मतुः । नकुलः सुघोषं सहदेवो मणिपुष्पकं च दध्माविल्यर्थः ॥ १६ ॥

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्त विजय एवं नकुल तथा सहदेव ने (क्रम से) सुघोष और मणिपुष्पक नामक शङ्ख बजाये ॥ १६ ॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखंडी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥

काश्य इति । परम उत्कृष्ट इष्वा स यस्य सः । काश्यः काशीराजः । महारथः । शिखंडी । धृष्टद्युम्नः । विराटश्च । अपराजितः केनापि पराजेतुमशक्यः । यद्वा । चापेन धनुषाराजितः प्रदीप्तः । सात्यकिश्च ॥ १७ ॥

पृथ्वीपते ! इनके अतिरिक्त महाधनुर्धर काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट, (किसी से भी) न जीते जानेवाले सात्यकि ॥ १७ ॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक् पृथक् ॥ १८ ॥

द्रुपद इति । हे पृथिवीपते धृतराष्ट्र । द्रुपद एतन्नामा राजा । द्रौपदेया द्रौपदीपुत्राः प्रतिविंध्यादयः पंच । महाबाहुः । सौभद्रोऽभिमन्युश्च । सर्वशः ते सर्वे । पृथक्पृथक् । शंखान् । दध्मुः ॥ १८ ॥

राजा द्रुपद, द्रौपदी के (पाँचों) पुत्र तथा सुभद्रा पुत्र महाबाहु अभिमन्यु इन सबने भी सब ओर से अलग-अलग शंख बजाये ॥ १८ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

स च नादस्त्वदीयानां त्रासजनकोऽभूदित्याह । स इति तुमुलोऽतिगहनः । सः । घोषः । नभ आकाशम् । पृथिवीं च । व्यनुनादयन्प्रतिशब्दैर्व्याप्नुवन्सन्नेव । धार्तराष्ट्राणां दुर्योधनादित्वदीयानाम् । हृदयानि । व्यदारयद्बिभेद । तेषां मनो वित्रासकमऽभूदित्यर्थः ॥ १९ ॥

वह भयंकर शब्द आकाश और पृथ्वी को पूर्णरूप से प्रतिध्वनित करता हुआ धृतराष्ट्र-पुत्रों के हृदयों को विदीर्ण करने लगा ॥ १९ ॥

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पांडवः ॥ २० ॥

इदानीमर्जुनयुद्धोद्योगमाह द्वाभ्याम् । अथेति । अथ शंखनादैः शत्रुहृदयविदारणानंतरम् । कपिर्हनुमान्ध्वजे यस्य सः । पांडवोऽर्जुनः । शस्त्रसंपाते शस्त्रप्रक्षेपणे । प्रवृत्ते सति । व्यवस्थितान् युद्धोद्योगेनाभिमुखे स्थितान् । धार्तराष्ट्रांस्त्वत्पुत्रान् । दृष्ट्वा धनुः । उद्यम्य सज्जीकृत्य च ॥ २० ॥

पृथ्वीपते ! इसके अनन्तर, ठीक शस्त्रपात की तैयारी के समय युद्ध के लिये सुसज्जित धृतराष्ट्रपक्षीय योद्धाओं को देखकर वानर की ध्वजावाले अर्जुन ने ने धनुष उठाकर ॥ २० ॥

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥

हृषीकेशमिति । हे महीपते । तदा तस्मिन्समये । हृषीकेशं श्रीकृष्णं प्रति । इदं वक्ष्यमाणम् । वाक्यम् । आहाब्रवीत् । हे अच्युत । उभयोः । सेनयोः । मध्ये मम । रथम् । स्थापय ॥ २१ ॥

हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्ण से ये वचन कहे—अच्युत ! आप मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में (ऐसी जगह) खड़ा कीजिये ॥ २१ ॥

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥

ननु मध्यभागबहुलत्वात्कुत्रास्य स्थापनं करोमीत्यत्राह । यावदिति योद्धुं कामो येषां तान् । अवस्थितान्प्रहर्तुं सज्जीभूय स्थितान् । एतान्भीष्मादीन् । यावद्यत्र स्थितस्त्वेत्यर्थः । अहम् । निरीक्षे । यत्र स्थिते मद्दृष्टिगोचरास्ते भवेयुस्तत्र स्थापयेत्यर्थः । ननु त्वं योद्धा न तु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

युद्धप्रेक्षक इत्यत्राह कैरिति । अस्मिन् । रणसमुद्यमे संबंधिनामेवान्योन्यसंग्रामोद्योगे । मया । कैः सह । योद्धव्यं युद्धं कर्त्तव्यम् । एतदर्थमेव रथस्थापनप्रयोजनं न तु युद्धप्रेक्षणार्थमिति भावः ॥ २२ ॥

जहाँ से मैं युद्ध की इच्छा से सज-धजकर खड़े हुए इन योद्धाओं को अच्छी तरह देख सकूँ कि इस रणक्षेत्र में मुझे किन-किन के साथ युद्ध करना है ॥ २२ ॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

योत्स्यमानानिति । दुर्बुद्धेः । धार्त्तराष्ट्रस्य धृतराष्ट्रपुत्रदुर्योधनस्य । युद्धे । प्रियचिकीर्षवः प्रियं कर्त्तुमिच्छंतः । ये । एते राजानः । अत्र संग्रामे । समागताः । तान् योध्यमानान् युद्धं करिष्यतः । अहम् । अवेक्षे । युद्धेच्छयाऽऽगतान् तु संधिं कर्तुंमतः संग्रामाय तेषामवलोकनमुचितमिति भावः ॥ २३ ॥

युद्ध में धृतराष्ट्र के दुर्बुद्धि पुत्र दुर्योधन का हित चाहने वाले जो ये सब लोग यहाँ एकत्रित हुए हैं, इन युद्ध करने वालों को मै देख लूँ ॥ २३ ॥

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥ २५ ॥

एवमिति । भीष्मेति । हे भारत भरतवंशोत्पन्न धृतराष्ट्र गुडाकाया निद्राया ईशस्तेन जितनिद्रेणार्जुनेन । एवमित्थम् । उक्तः । हृषीकेशो भगवान् । उभयोः । सेनयोः । मध्ये । भीष्मश्च द्रोणश्च तयोः प्रमुखतः सन्मुखे । सर्वेषाम् । महीक्षितां राज्ञां च सन्मुखे । रथोत्तमं वह्निनादत्तत्वात्सारथिनाब्यमनुकुर्वता श्रीपुरुषोत्तमेनाधिष्ठितत्वाच्च सर्वोत्तमं रथम् । स्थापयित्वा । हे पार्थ । समवेतान्संगतान् । एतांस्त्वदभिमुखस्थितान् । कुरून्धार्तराष्ट्रान् । त्वम् । पश्य । इति । उवाचार्जुनं प्रत्यब्रवीत् । इति द्वयोरेकान्वयः ॥ २४–२५ ॥

संजयने कहा—भारत (धृतराष्ट्र) ! निद्राविजयी अर्जुन के इस प्रकार कहने पर, इन्द्रियों के स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण ने भीष्म-द्रोणादि के सामने तथा अन्य समस्त राजाओं के देखते-देखते ही उत्तम रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा करके ऐसे कहा—पार्थ ! इन एकत्र हुए कुरुवंशियों को तू देख ॥२४-२५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥ २६ ॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।

तत्रेति । अथैवं श्रीकृष्णेनोक्ते सति । पार्थोऽर्जुनः । तत्र तयोः स्वदृष्टिगोचरयोः । उभयोरपि । सेनयोः स्थितान् । पितॄन्पितृव्यान् भूरिश्रवःप्रभृतीन् । पितामहान्भीष्मसोमदत्तादीन् । आचार्यान् द्रोणकृपादीन् । शल्यशकुनिप्रमुखान् । भ्रातॄन् दुर्योधनादीन् । पुत्रान् लक्ष्मणप्रभृतीन् । पौत्रान् पुत्रपुत्रान् । सखीनश्वत्थामजयद्रथादिसवयसः । तथाश्वशुरान् । सुहृदः कृतवर्मभगदत्तादिमित्राणि च । एवकारेण सकलान्संबंधिजनानेव । अपश्यत् ॥ २६½ ॥

वहाँ उन दोनों सेनाओं में अर्जुन ने युद्ध के लिए सुसज्जित होकर स्थित पिता (ताऊ-चाचा), पितामह, आचार्य, मामा, भाई, पुत्र, पौत्र, मित्र, श्वशुर और सुहृदों को देखा ॥ २६½ ॥

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बंधूनवस्थितान् ॥ २७ ॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

तानिति । कौंतेयः कुंतीपुत्रः । सोऽर्जुनः । अवस्थितान्परस्परं योद्धुमवतिष्ठतः । तान्पूर्वोक्तादीन् । सर्वान् बंधून् समीक्ष्य । परया प्रचुरया । कृपया । आविष्टो व्याप्तः । अत एव । विषीदन्विशेषेण खेदं प्राप्नुवन्सन् । इदं वक्ष्यमाणम् अब्रवीच्छ्रीकृष्णं जगाद ॥ २७½ ॥

उन सब बन्धु-बान्धवों को खड़ा देखकर वह कुन्तीपुत्र अर्जुन परम करुणा से भर गया और विषाद करता हुआ इस प्रकार कहने लगा ॥ २७½ ॥

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८ ॥
सीदंति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥
गांडीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥

स यदब्रवीत्तदाहांतिमश्लोकवर्जं यावदध्यायसमाप्ति । दृष्ट्वेति । हे कृष्ण । युयुत्सुं योद्धुमिच्छन्तम् । समुपस्थितं समीपस्थम् । इमम् । स्वजनं मद्बंधुवर्गम् । दृष्ट्वा । मम । गात्राणि करपादाद्यंगानि । सीदंति शिथिलीभवंति । मुखं च । परिशुष्यति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वेपथुरिति। मे मम शरीरे। वेपथुः कंपः। रोमहर्षो रोमोद्गमश्च। जायते। हस्तात्। गांडीवं धनुः। स्रंसतेऽधःपतति। त्वक् त्वगिंद्रियं च। परिदह्यते तपतस्तप्यत एव। मे मम। मनश्च। भ्रमतीवेतस्ततश्चलितमिव भातीत्यर्थः। अत एव। अहम्। अवस्थातुम्। चापि। न शक्नोमि समर्थो नास्मि॥ २८-३०॥

अर्जुनने कहा—श्रीकृष्ण! युद्ध की इच्छा से समुपस्थित इस स्वजन-समुदाय को देखकर मेरे सारे अंग शिथिल हुए जा रहे हैं; मुख सूखा जा रहा है, मेरे शरीर में कम्प हो रहा है, रोएँ खड़े हो रहे हैं, मेरे हाथ से गाण्डीव धनुष फिसला जा रहा है और मेरी त्वचा जल रही है। मैं खड़ा रहने में भी असमर्थ हो रहा हूँ, मेरा मन चक्कर-सा खा रहा है॥ २८–३०॥

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे॥ ३१॥

तत्र हेतुं वदन्नाह। निमित्तानीति हे केशव। अहम्। विपरीतानि निमित्तानि वामांगस्फुरणादीन्यनिष्टसूचकशकुनानि पश्याम्यनुभवामि। आहवे संग्रामे। स्वजनं सकलसंबंधिजनानित्यर्थः। हत्वा। अनु पश्चात्। श्रेय इहामुत्र शुभफलं च न पश्यामि॥ ३१॥

केशव! मैं सारे लक्षणों को भी विपरीत ही देख रहा हूँ। और युद्ध में स्वजन-समुदाय को मारकर मैं किसी प्रकार भी कल्याण नहीं देख रहा हूँ॥ ३१॥

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा॥ ३२॥

ननु विजयादि फलं किं न पश्यसीति चेत्तत्राह। नेति हे कृष्ण। अहम्। विजयम्। न कांक्षे नेच्छामि। राज्यम्। सुखानि च न कांक्षे। हे गोविंद। नोऽस्माकम्। राज्येन किम्। भोगैः किम्। वाऽथवा। जीवितेन किम्? न किंचिदपीत्यर्थः॥ ३२॥

श्रीकृष्ण! मैं न विजय चाहता हूँ और न राज्य या सुखों को ही। गोविन्द! हमें राज्य, भोग अथवा जीवन से भी क्या प्रयोजन है?॥ ३२॥

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च॥ ३३॥

एतदेव प्रपंचयति द्वाभ्याम्। येषामिति। येषामर्थे यदर्थम्। नोऽस्माकम्। राज्यम्। कांक्षितमपेक्षितम्। भोगाः। सुखानि च कांक्षितानि। ते। इमे। प्राणान्। धनानि च। त्यक्त्वा। तत्त्यागनिश्चयं कृत्वेत्यर्थः। युद्धे युद्धार्थम्। अवस्थिताः॥ ३३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हमें जिनके लिये राज्य, भोग और सुखों की आवश्यकता है वे ही ये प्राण और धन का परित्याग करके युद्ध में सज-धजकर खड़े हैं ।। ३३ ।।

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबंधिनस्तथा ।। ३४ ।।

संक्षेपेण तान्निर्दिशति । आचार्या इति । आचार्याः । पितरः । पुत्राः । तथैव । पितामहाः । मातुलाः । श्वशुराः । पौत्राः । श्यालाः । तथा । संबंधिन उक्तेतरे सर्वे संबंधिनश्च ॥ ३४ ॥

वे हैं—गुरुजन, पितामह, पिता (ताऊ, चाचा), पुत्र, पौत्र, मामा, श्वशुर, साले तथा अन्यान्य सम्बन्धीगण ।। ३४ ।।

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ।। ३५ ।।

ननु यद्येतान्संबंधस्नेहेन त्वं न हनिष्यसि तर्हि त्वामेते राज्यलोभेन हनिष्यंत्येवा-तस्त्वमेतान्हत्वा राज्यं कुर्वित्यत्राह । एतानिति । हे मधुसूदन । घ्नतोऽस्मान्घातयतोऽपि । एतान् दुर्योधनादीन् । त्रैलोक्यराज्यस्यापि हेतोस्त्रिलोकीराज्यप्राप्त्यर्थमप्यहम् । हंतुम् । न इच्छामि । तर्हि महीकृते केवलं पृथ्व्यर्थम् । किं नु किं पुनस्तान्हन्यानहन्यामित्यर्थः ॥३५॥

मधुसूदन ! इनके द्वारा मारे जाने पर भी अथवा तीनों लोकों के राज्य के लिये भी मैं इन सबको मारना नहीं चाहता, फिर पृथ्वी के लिये तो कहना ही क्या है ।। ३५ ।।

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ।। ३६ ।।

निहत्येति । हे जनार्दन । धार्तराष्ट्रान्स्वासन्नसंबंधिनो धृतराष्ट्रपुत्रादीन् । निहत्य । स्थितानां नोऽस्माकम् । का । प्रीतिः स्यात् । न कापीत्यर्थः । प्रत्युत । आततायिनः 'अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।' क्षेत्रदारापहारी च षडेते आततायिनः । इति षड्विधा-ततायिलक्षणसंपन्नानपि । एतानाचार्यपितामहभ्रात्रादीन् । हत्वा । अस्मान् । पापमेव । आश्रयेत्प्रसज्येत । न त्वन्यत् किंचिदित्यर्थः । आततायी हंतव्य इत्यर्थशास्त्रं तथाविधोऽप्या-चार्यादिर्न हंतव्य इति धर्मशास्त्रम् अर्थशास्त्राच्च बलवद् धर्मशास्त्रमिति स्थितिरिति याज्ञ-वल्क्यवचनादाचार्यादिवधस्यान्यायत्वादधर्मत्वाच्चेति भावः ॥ ३६ ॥

जनार्दन ! इन धृतराष्ट्रपक्षीय लोगों को मारकर हमें क्या लाभ होगा ? (वल्कि) इन आततायियों को मारने से हमें पाप ही लगेगा ।। ३६ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥

तस्मादिति । तस्मात्पापसंभवाद्धेतोः । वयम् । स्वबांधवान्स्वासन्नसंबंधिनः । धार्तराष्ट्रान् । हंतुम् । नार्हा योग्या न भवामः । हे माधव लक्ष्मीपते । वयं स्वजनं समग्रसंबंधिजनानित्यर्थः । हत्वा । सुखिनः । कथं केन प्रकारेण । स्याम भवेम । हि निश्चितं सुखिनो नैव भवेमेत्यर्थः ॥ ३७ ॥

इसलिये धृतराष्ट्रपक्षीय अपने बान्धवों को मारना हमारे लिये उचित नहीं है । क्योंकि माधव ! हम अपने कुटुम्ब को मार कर कैसे सुखी होगे ? ॥३७॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥

प्रतिपक्षिणां बंधुवधदोषानभिज्ञत्वं स्वेषां तु तदभिज्ञत्वं वदन्नाह द्वाभ्याम् । यदीति । लोभेन पारक्यराज्यभोगतृष्णयोपहतानि चेतांसि येषां ते । एते दुर्योधनादयः । यद्यपि । कुलस्य क्षयो नाशस्तेन कृतं जातम् । दोषं पापम् । मित्राणां यो द्रोहस्तस्मिंश्च । पातकं न पश्यंति ॥ ३८ ॥

यद्यपि जिनका चित्त लोभ के कारण भ्रष्ट हो चुका है ऐसे ये लोग कुलनाशजनित दोष को और मित्र-द्रोह से उत्पन्न पाप को नहीं देख रहे हैं ॥३८॥

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥

कथमिति । तथाऽपि । कुलक्षयकृतम् । दोषम् । प्रपश्यद्भिः सम्यक् ज्ञातृभिः । अस्माभिः । हे जनार्दन । अस्मादुक्तविधात् । पापात् निवर्त्तितुम् । कथम् । न ज्ञेयम् । ज्ञातव्यमेवेत्यर्थः । पापस्य ज्ञातृत्वात्तन्निवृत्तावेव मनः कर्त्तव्यमिति भावः ॥ ३९ ॥

परन्तु जनार्दन ! हम लोगों को, जो कि कुलनाशजन्य दोष को भलीभाँति समझते हैं, इस पाप से बचने का उपाय क्यों नहीं सोचना चाहिये ? ॥ ३९ ॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥

इदानीं कुलक्षयोत्पन्नदोषान्स्पष्टयति पंचभिः । कुलेति । कुलस्य क्षये विनाशे सति । सनातनाः कुलपरंपरागताः । कुलस्य क्षत्रियकुलस्य धर्माः । प्रणश्यंति विनाशं प्राप्नुवंति । उतेति खेदे । धर्मे नष्टे धर्मेषु नष्टेषु सत्सु । कृत्स्नमवशिष्टसमग्रम् । कुलम् । अधर्मः । अभिभवति व्याप्नोति ॥ ४० ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कुल का नाश होने पर सनातन कुल-परम्परागत धर्म नष्ट हो जाते हैं और धर्म का नाश हो जाने पर फिर अधर्म समस्त कुल को सब ओर से दबा लेता है ॥ ४० ॥

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४१ ॥

अधर्मेति । हे कृष्ण । अधर्मेण कृतो योऽभिभवः पराभवस्तस्मात् । कुलस्त्रियः । प्रदुष्यंति । अहो धर्मशास्त्रज्ञैर्धर्ममुल्लंघ्य कुलनाशः कृतश्चेत्तर्ह्यशास्त्रज्ञाभिरस्माभिरविचारे कृते किमघं स्यादित्येवं कुतर्कोपहतास्ताः प्रदुष्येयुरित्यर्थः । हे वार्ष्णेय वृष्णिकुलोत्पन्न । स्त्रीषु । दुष्टासु स्त्रीषु । वर्णसंकरः । जायते ॥ ४१ ॥

श्रीकृष्ण ! अधर्म के छा जाने पर कुल की स्त्रियाँ अत्यन्त दूषित हो जाती हैं । वार्ष्णेय ! स्त्रियों के दूषित हो जाने पर वर्णसंकर उत्पन्न हो जाता है ॥४१॥

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥

संकर इति । संकरो वर्णसांकर्यम् । कुलघ्नानां कुलघातकानाम् । कुलस्य हतावशिष्टस्य तस्य च । नरकायैव नरकपातार्थमेव भवतीत्यर्थः । न केवलं तेषां वा तस्यैव नरकपातनं किं त्वेषामपि भवतीत्याह पतंतीति । हि यस्मात् । लुप्ताः पिंडोदकक्रियाः श्राद्धादिकर्माणि येषां ते । एषाम् । पितरः पितृपितामहादयः । पतंति स्वर्गाद्युत्कृष्टस्थानेभ्यो निपतंति । स्वपृष्टतः स्वनिमित्तसत्कर्माभावादिति भावः ॥ ४२ ॥

वह वर्णसंकर कुलघातियों को और कुल को नरक में डालने वाला होता है । अतः उनके कुल में पिण्ड और जलदान की क्रिया (श्राद्ध, तर्पण) लुप्त हो जाने के कारण उनके पितरों का पतन हो जाता है ॥ ४२ ॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३ ॥

एतदेव दृढीकुर्वन्नाह द्वाभ्याम् । दोषैरिति । वर्णसंकरकारकैः कुलघ्नानाम् । एतैः पूर्वोक्तैः । दोषैः । शाश्वताः सनातनाः । जातिधर्माः क्षत्रियादिवर्णधर्माः । कुलधर्माश्च उत्साद्यंते विनाश्यंते ॥ ४३ ॥

कुलघातियों के इन वर्णसंकरजनित दोषों के कारण सनातन कुल-धर्म और जातिधर्म सर्वथा नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं ॥ ४३ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥

उत्सन्नेति । हे जनार्दन । उत्सन्नाः कुलधर्मा येषां तेषाम् । एतज्जातिधर्मादीनामुपलक्षणमुत्सन्नजातिधर्मादीनां च । मनुष्याणाम् । नरके । नियतं निरंतरम् । वासो निवासः । भवति । इति । अनुशुश्रुम । प्रायश्चित्तमकुर्वाणाः पापेषु नियता नराः । अपश्चात्तापिनः कष्टान्निरयान्यांति दारुणानित्यादिश्रुतिस्मृतिवचनान्याचार्यमुखाद्वयं श्रुतवन्त इत्यर्थः ॥ ४४ ॥

जनार्दन ! जिनके कुल-धर्म नष्ट हो जाते हैं, उन मनुष्यों का अवश्य ही नरक में निवास होता है; ऐसा हमने सुना है ॥ ४४ ॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥

इदानीं बंधुवधदोषभिया संतप्यमानः सन्नाह द्वाभ्याम् । अहो इति ॥ अहो इति कष्टे । बतेति खेदे वयम् । राज्यस्य यत्सुखं तस्य लोभेन । स्वधनं स्वसंबंधिजनान् । हंतुम् । उद्यताः सज्जीभूताः । यदेतदेव । महत् । पापं कर्तुम् । व्यवसिताः । निश्चयं कृतवंतः ॥ ४५ ॥

अहो ! बड़े शोक की बात है कि हम लोगों ने बड़ा भारी पाप करने का निश्चय कर लिया है । जो कि राज्य और सुख के लोभ से अपने ही कुटुम्ब को मारने के लिये उद्यत हुए हैं ॥ ४५ ॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

अतो बंधुवधात्स्वमरणमेव श्रेष्ठमित्याह । यदीति । शस्त्रपाणयः । धार्तराष्ट्राः । अशस्त्रं त्यक्तायुधम् । अत एव । अप्रतीकारं तत्प्रतीकारमकुर्वन्तम् । माम् । यदि । रणेऽस्मिन्संग्रामे हन्युर्हनिष्यंति । तत्तत्कृद्धननमेव । मम । क्षेमतरमतिशयक्षेमकरम् । भवेत् तद्धननकृतनिश्चयसंगतमानसिकपापप्रणशनादिति भावः ॥ ४६ ॥

यदि मुझे न सामना करने वाले और शस्त्ररहित को ये शस्त्रधारी धृतराष्ट्र के पुत्र रण में मार डालें तो वह मेरे लिये अधिक कल्याणकर होगा ॥ ४६ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

एवमिति शोकेन प्रारब्धबंधुनाशोत्पन्नशोकेन संविग्नं प्रकंपितं मानसं यस्य सः । अर्जुनः । संख्ये युद्धारंभे । एवम् । उक्त्वा श्रीकृष्णं गदित्वा । सशरं बाणसहितम् । चापं धनुः । विसृज्य हस्ताद्रथे निक्षिप्य च । रथोपस्थे रथोपरि उपाविशत् ॥ ४७ ॥

इति श्रीमदद्वितीयसकलावतारकारणश्रीहरिकृष्णभगवत्सूनुश्रीरघुवीराचार्यात्मज-श्रीभगवत्प्रसादाचार्यपुत्रश्रीविहारिलालाचार्यविरचितायामुपनिषदात्मक-श्रीभगवद्गीताटीकायामन्वयार्थदीपिकायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

संजयने कहा—रणाङ्गण में इस प्रकार कहकर शोक में निमग्न मनवाला अर्जुन बाणसहित धनुष का परित्याग करके रथ के पिछले भाग में बैठ गया ॥४७॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ द्वितीयोऽध्यायः

आत्मानात्मविवेकात्मसांख्ययोगो द्वितीयके ।
प्रोक्तश्च स्थितप्रज्ञत्वं नित्यताऽऽत्मपरात्मनाम् ॥ १ ॥

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

तमिति—तथोक्तप्रकारेण । कृपया स्वजनेषु स्नेहनिमित्तदयया । आविष्टं व्याप्तम् । अश्रुभिः पूर्णे आकुले ईक्षणे यस्य तम् । विषीदंतं भाविस्वजनवियोगनिमित्तेन खेदं प्राप्नुवंतम् । तमर्जुनं प्रति । मधु दैत्यं वा त्यक्तुमशक्यत्वान्मिष्टं कुटुंबस्नेहं सूदयति विनाशयत्युपदेशेन खंडयतीति वा तथोक्तः श्रीकृष्णः । इदं वक्ष्यमाणम् । वाक्यम् । उवाच ॥ १ ॥

संजय ने कहा—इस प्रकार करुणा से ओतप्रोत, आँसू भरे व्याकुल नेत्रों वाले, तथा अत्यन्त विषादयुक्त उस अर्जुन से भगवान् मधुसूदन ने यह बात कही ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

कुत इति—हे अर्जुन । विषमेऽस्मिन्विकटस्थाने । त्वा त्वां विवेकिनं भवंतम् । इदं धर्ममिषेण पारतंत्र्यकरम् । कश्मलं मोहः कुतो हेतोः । समुपस्थितं प्राप्तम् । ननु मोक्षेच्छया प्राप्तमिति चेत्तत्राह । अनार्यैर्मोक्षाधिकाररहितजनैर्जुष्टं सेवितम् । ननु स्वर्गेच्छयेति चेत् । अस्वर्ग्यं स्वर्गप्रापकं न भवति । ननु यशःप्राप्त्यर्थमिति चेत् । अकीर्त्तिकरमिहामुत्र च कीर्त्तिनाशकृत् ॥ २ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—अर्जुन ! इस असमय में (संकट के समय) यह अनार्य पुरुषों द्वारा सेवित, परलोक विरोधी और अकीर्ति फैलाने वाला शोक तुझे कहाँ से प्राप्त हो गया ॥ २ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

क्लैब्यमिति—हे पार्थ कुन्तीपुत्र । त्वम् । क्लैब्यमधीरत्वम् । मा स्म गमो माऽगाः । त्वयि मत्सख्यौ भवति । एतत् क्षत्रियहास्यक्लैब्यम् । नोपपद्यते न घटते । अत एव । हे परंतप शत्रुतापन । क्षौद्रमतितुच्छम् । हृदयस्य मनसो दौर्बल्यम् । त्यक्त्वा । उत्तिष्ठ युद्धाय तत्परो भव ॥ ३ ॥

पार्थ ! तू नपुंसकता ग्रहण न कर, यह तुझे शोभा नहीं देती, परन्तप ! हृदय की तुच्छ दुर्बलता को त्याग कर तू (युद्ध के लिये) खड़ा हो जा ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

तदेवं श्रीकृष्णेन—बोधितोऽर्जुनो युद्धेऽप्याचार्यपितामहादिहननमयोग्यमित्यालक्ष्योवाच । कथमिति । हे मधुसूदन । अहम् । भीष्मं पितामहम् । द्रोणं गुरुं च । संख्ये युद्धे । इषुभिर्बाणैः । कथम् । प्रतियोत्स्यामि । यत्र वाचाऽपि प्रतिवक्तुमनुचितं तत्र बाणैः कथं प्रहरिष्यामि न कथंचिदपीत्यर्थः । तत्र हेतुमाह । हे अरिसूदन शत्रुविनाशन । पूजार्हौ पुष्पाद्यैर्मम तौ पूजनीयौ स्त इत्यर्थः ॥ ४ ॥

अर्जुन कहने लगा—मधुसूदन ! अरिसूदन ! पूजा के योग्य इन पितामह भीष्म और आचार्य द्रोण का, मैं युद्ध में बाणों के द्वारा किस प्रकार सामना कर सकूँगा ? ॥ ४ ॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

ननु तेष्वहतेषु तव देहनिर्वाहोऽपि न स्यादित्यत्राह । गुरूनिति । महानुभावान्माननीयान् । गुरून् द्रोणादीन् अहत्वा इह । लोके । भैक्ष्यं भिक्षया प्राप्तमन्नम् । अपि तैर्हृतराज्यानां नो राज्ञां निषिद्धमपि । भोक्तुम् । श्रेयः श्रेष्ठं योग्यमस्तीत्यर्थः । हि यस्मात् । अर्थकामान् राज्यभोगाद्यासक्तान् । गुरून् । हत्वा तु । अर्थतृष्णाकुलत्वादेते युद्धान्न निवर्त्तंरंस्तस्मादेतद्वधः प्रसज्येतैवेतिभावः । तदुक्तं युधिष्ठिरं प्रति भीष्मेण । 'अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित् । इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैरिति' रुधिरेण तेषां रक्तेन प्रदिग्धान्प्रलिप्तान् । तैर्भुक्तानित्यर्थः । भोगान् । अहम् । इह तद्भुक्तासनेष्वेव स्थित्वेत्यर्थः । कथमिति शेषः । भुंजीय ॥ ५ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(मैं तो समझता हूँ कि) इन महानुभाव गुरुजनों को न मार कर इस लोक में भीख का अन्न खाना ही अच्छा है; क्योंकि इन अर्थ लोलुप भी गुरुजनों को मारकर यहाँ उनके रुधिर से सने हुए भोगों को ही तो भोगना है ॥ ५ ॥

न चैतद्विद्म कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

इदानीं कुलक्षयोत्पन्नदोषान्स्पष्टयति पंचभिः । कुलेति । कुलस्य क्षये विनाशे सति । सनातनाः कुलपरंपरागताः । कुलस्य क्षत्रियकुलस्य धर्माः । गरियः श्रेष्ठमस्तीति । वयम् । न विद्मः । यद्वा पक्षांतरे । वयम् । जयेमेमान् जेष्यामः । यदि वा यद्वा नोऽस्मान् । जयेयुरेते जेष्यंति । इति च न विद्मः । अस्माकं तु जयोऽपि वस्तुतः पराजय एवेत्याह । यानिति । वयम् । यान् हत्वा । न जिजीविषामो जीवनेछावंतो न भवामः । त एव । धार्तराष्ट्राः । प्रमुखे योद्धुमभिमुखम् । अवस्थिताः ॥ ६ ॥

हमें तो यह भी मालूम नहीं है कि हमारे लिये क्या करना अच्छा है अथवा हम जीतेंगे या वे हमें जीतेंगे । जिनको मार कर हम जीना भी नहीं चाहते वे ही धृतराष्ट्र पुत्र हमारे सामने डटकर खड़े हैं ॥ ६ ॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥

कार्पण्येति—कार्पण्यं दयास्नेहाभ्यां दैन्यं च दोषो गुर्वादिहननाघं च ताभ्यामुपहतः स्वभावः शौर्यादिलक्षणो यस्य सः धर्मे क्षत्रियधर्मे संमूढं विवेकहीनं चेतो यस्य सः । कुटुंबस्नेहात्मकदोषेण साक्षात्स्वप्रसन्नताहेतुं परमधर्ममजानन्नित्यर्थः । अहम् । त्वामपुनरावृत्तिलक्षणमोक्षधर्मबोधकं महाकारुणिकं भवंतम् । पृच्छामि । अत एव । पद्येन कृत्येन । श्रेयोऽत्र परत्र मदुंदयः स्यात् । तत्कृत्यम् । निश्चितं यथा तथा । मे मह्यम् । ब्रूहि । ननु कस्मादहं ब्रूयामिति चेत्तत्राह शिष्य इति ते तव । अहम् । शिष्यः शिक्षाकर्त्तुं योग्योऽस्मि । अतः । त्वाम् । प्रपन्नं शरणागतम् । माम् । शाधि सर्वोत्तमहितं प्रतिशिक्षय ॥ ७ ॥

(इन्हें देखकर) करुणा के दोष से मेरा स्वभाव दब गया है, और मेरा चित्त धर्म के विषय में मोहित हो गया है । अतः मैं आपसे पूछ रहा हूँ, और (कृपया) मेरे लिये जो कल्याण का निश्चित साधन हो, वह मुझे बतलाइये । मैं आपका शिष्य हूँ, आपके शरणापन्न मुझ दीन को शिक्षा दीजिये ॥ ७ ॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद् यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तदेवं शिक्षां प्रार्थयमानः सन्स्वबंधुस्नेहजन्यशोकापनोदनोपायाज्ञानं प्रकटयति। नहीति भूमौ। असपत्नं शत्रुवर्जितम्। ऋद्धं समृद्ध्याढ्यं च। राज्यम्। अवाप्य प्राप्य। उत च। सुराणामाधिपत्यमपि। अवाप्य। इन्द्रियाणाम्। उच्छोषणं शोषकम्। मम। शोषकम्। यत्कृत्यम्। अपनुंद्यादपनयेत्। तत्। अहम्। न प्रपश्यामि। हि निश्चितम् ॥८॥

क्योंकि पृथ्वी का सब ओर से समृद्ध निष्कण्टक राज्य पाकर अथवा देवताओं का आधिपत्य मिलने पर भी मैं उस उपाय को नहीं देख रहा हूँ, जो इन्द्रियों को सुखाने वाले मेरे शोक को दूर कर सके ॥ ८॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥

एवमिति—हे परंतप धृतराष्ट्र गुडाकेशोऽर्जुनः। हृषीकेशं श्रीकृष्णं प्रति। एवम्। उक्त्वा। ह स्फुटं यथा तथा पुनः। अहम्। न योत्स्ये युद्धं न करिष्ये। इति। गोविंदम्। उक्त्वा। तूष्णीं मौनः। बभूव ॥ ९ ॥

संजय ने कहा—राजन्! निद्राविजयी अर्जुन हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्ण से इस प्रकार कहकर फिर गोविन्द से (स्पष्ट) यह कहकर कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' चुप हो गया ॥ ९ ॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ १० ॥

तमिति। हे भारत। हृषीकेशो भगवान्। प्रहसन्निव। अस्थाने प्राप्तं शूरत्वं हीविनाशकं तस्य खेदं समीक्ष्य किंचिन्मुखेन हासभावं ज्ञापयन्सन्नित्यर्थः। उभयोः। सेनयोः। मध्ये। विषीदंतं तत्त्वत आसुरीसंपदाढ्यामेतेषां विनाशनेन भूभारावतरणरूपश्रीकृष्णाभिप्रायमज्ञात्वा खेदं प्राप्नुवंतम्। तमर्जुनं प्रति। इदं धर्मज्ञानवैराग्यभक्तिरहस्योपदेशप्लवेन तस्माच्छोकमोहसागरात्तमुद्धर्तुमशोच्यानित्यारभ्याहं त्वां सर्वेभ्यः पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच इत्येवं वक्ष्यमाणम्। वचो वाक्यम्। उवाच ॥ १० ॥

तब धृतराष्ट्र! दोनों सेनाओं के मध्य में विषाद करते हुए उस अर्जुन से हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्ण ने परिहास करते हुए-से ये वचन कहे ॥ १० ॥

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ११ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तत्रावश्यकर्त्तव्यकर्मयोगज्ञानयोगभक्तियोगज्ञानमंतराऽस्य मोहो न निवर्त्ततेति वि ार्य प्रथमं तदुपयोग्यात्मज्ञानं वदन् श्रीभगवानुवाच । अशोच्यानिति । हे अर्जुन त्वम् । अशोच्यानात्मानात्मविवेकतया कदापि शोचितुमयोग्यान्स्वसहितद्रोणभीष्मादीन् । अन्वशोचोऽनुशोचसि । देहात्मधियां तद्धर्मत्वादिति भावः । प्रज्ञावादान् पतंति पितरो ह्येषां लुप्तपिंडोदकक्रिया इति अहो बत महत्पापं कर्त्तुं व्यवसिता वयमित्यादिंका देहात्मबुद्धिस्तया कल्पितान्वादान् । भाषसे वदसि । तथाहि । पंडिता आत्मनात्मविवेकज्ञानवंतः । गतासूनवश्यगतप्राणान्वस्तुतो जडान्देहानित्यर्थः । अगतासून्कालत्रयाविनाशिस्वभावाज्जीवात्मनश्च । न अनुशोचंति । विनाशिस्वभावत्वाद्देहो न शोच्यः अविनाशिस्वभावादात्माऽपि न शोच्यस्तस्मात्त्वैतच्छोचनं वृथेति भावः ॥ ११ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—जिनके लिये शोक नहीं करना चाहिये, उनके लिये तू शोक कर रहा है तथा पण्डितों की-सी बातें भी बना रहा है। (किन्तु) पण्डित लोग मरणशील शरीरों के लिये और अविनाशी आत्माओं के लिये भी शोक नहीं किया करते ।। ११ ।।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ।। १२ ।।

कर्मफलप्रदातुरद्वितीयस्य स्वस्य मुक्तबद्धक्षेत्रज्ञानां चाविनाशिस्वरूपत्वं विवेचयन्नशोच्यत्वं द्रढयति। न त्विति। अहमीदृशदिव्यसाकारमूर्तितयाऽखंडमक्षरधाम्नि स्थितः सन्ननंतजीवोद्धरणायासंख्यांडेषु प्रादुर्भवन् । जातु कदाचित्सृष्टेः पूर्वस्मिन्काले । नासं इति तु नैवापि त्वासमेव । त्वं मुक्तक्षेत्रज्ञो भवांश्च । जातु । नासीरिति तु नैवापि त्वासीरेव । जातित्वादेकवचनं सर्वे मुक्ता आसन्नित्यर्थः । इमे । जनाधिपाः । एतदादिसर्वबद्धक्षेत्रजा इत्यर्थः । जातु । नासन्निति नैवापि त्वासन्नेव । अतः परं स्थितिकालात्परं प्रलयकाले । वयम् । सर्वे च । न भविष्यामो न स्थास्याम इति नैवापि तु भविष्याम एव । सांप्रतमपि सर्वे वयं सन्ततो न शोच्या इत्यर्थः । यथाऽहं परमेश्वरः सर्वनियंता सत्योस्मि नात्र संशयस्तथैव युष्मदादयोऽसंख्यानादिमद्भक्ता नित्याः सेनाद्वयवर्त्तिजनाद्या अपरिमितबद्धजीवाश्च नित्याः संतीति तत्त्वम् ॥ १२ ॥

क्योंकि न तो यह बात है कि मैं पहले कभी नहीं था या तू नहीं था अथवा ये राजा लोग नहीं थे, और न यही है कि हमलोग सब के सब अब से पीछे (भविष्य में) नहीं रहेंगे ।। १२ ।।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ।। १३ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ननु बद्धजीवानां नित्यत्वेऽपि जन्ममरणे स्त इत्याशंक्य तथापि ते न शोचनीये इत्याह । देहिन इति । यथा । देहिनो देहभृज्जीवस्य । अस्मिन्वर्त्तमाने । देहे कौमारं कुमारावस्था । यौवनं युवावस्था । जरा वृद्धावस्था च । स्वाभाविक्यस्तीत्यर्थः । तथा । देहांतरस्यान्यदेहस्य प्राप्तिरस्ति । अतः । धीरो धैर्यवान् । तत्र तयोर्देहनाशोत्पत्त्योः । न मुह्यत्यशोचनीयत्वान्मोहं नाप्नोति ॥ १३ ॥

इस (वर्तमान) शरीर में जैसे जीवात्मा को कुमार, युवा और वृद्धावस्था की प्राप्ति होती है, वैसे ही शरीरान्तर की प्राप्ति (भी हो जाती है)। इस बात को समझने वाला धैर्यवान् पुरुष (ऐसा) शोक नहीं करता (कि आत्मा नष्ट होता है)॥ १३ ॥

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥

ननु देहयोगत्यागावसरे यद्दुःखं तद्दुःसहमिति चेत्तत्राह । मात्रेति । हे कौंतेय शीतोष्णसुखदुःखदाः । मात्रास्पर्शा इंद्रियैः समीचीना समीचीनविषयग्रहणानि तु । आगमापायिन आगमनगमनस्वभावाः । अत एव । अनित्याः संति । हे भारत । तान् । तितिक्षस्व प्रारब्धानुसारेण त्वं सहस्व ॥ १४ ॥

कुन्तीपुत्र ! ये विषय और इन्द्रियों के संयोग-सर्दी-गरमी रूप सुख-दुःख देने वाले, उत्पत्ति-विनाशशील और अनित्य हैं; अतः भारत ! तू इनको सहन कर ॥ १४ ॥

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

तत्सहनेन किं भवेदिति चेत्तत्राह । यमिति । हे पुरुषर्षभ । एते मात्रास्पर्शाः । समे दुःखसुखे यस्य तम् । यम् । धीरम् । पुरुषम् । न । व्यथयंति नाभिभवंति । स हि स एव अमृतत्वाय कल्प्यते मोक्षं प्राप्तुं योग्यो भवतीत्यर्थः ॥ १५ ॥

पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन ! दुःख-सुख को समान समझने वाले जिस धैर्ययुक्त पुरुष को ये (विषय और इन्द्रियों के संयोग) व्यथित नहीं कर सकते वही अमृतत्त्व का पात्र होता है ॥ १५ ॥

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥

मोक्षार्थिनामवश्यज्ञातव्यसदसद्विवेकं दर्शयन्नाह । नेति असतो देहादिजडवर्गस्य भावः सत्यत्वम् । न । विद्यते । सतो जीवात्मादिचेतनवर्गस्य । अभावोऽसत्यत्वम् । न

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विद्यते । तत्त्वदर्शिभिरेवं देहात्मनोर्यथार्थत्ववेदिभिर्विद्वद्भिस्तु अनयोः परिणाम्यपरिणामिनोः । उभयोर्देहात्मनोः । अंतो यथार्थनिर्णयः । दृष्टो ज्ञातः कृत इत्यर्थः । त्वयापि तत्त्वदर्शिना भवितव्यमित्यपि शब्दार्थः ॥ १६ ॥

असत् का (शरीर का) भाव नहीं है और सत् का (आत्मा का) अभाव नहीं है । इस प्रकार इन दोनों का यह निर्णय तत्त्वज्ञानियों द्वारा प्रत्यक्ष किया गया है ॥ १६ ॥

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥

एतत्सिद्धांतमेव विवेचयन्नाह नवभिः । अविनाशीति । येन जीवात्मवृंदेन । इदं दृश्यमानम् । सर्वमचेतनवृंदं ब्रह्मादिस्थावरांतदेहकदंबकमित्यर्थः । ततं व्याप्तम् । प्रतिशरीरमेकैकस्यात्मनो भिन्नभिन्नत्वेन व्याप्तिरस्तीति तत्त्वम् । तदात्मवृंदे तु । अविनाशी सत्यम् । विद्धि । अव्ययस्य कालत्रयेऽपि नाशानर्हस्य । अस्यात्मवृंदस्य । विनाशं कर्तुम् । कश्चित् कालादिः कोऽपि जनः । नार्हति समर्थो न भवति । तस्माच्छोको न कार्य इत्यर्थः ॥१७॥

जिससे यह सम्पूर्ण (जडवर्ग) व्याप्त है, उस (चेतन आत्मतत्त्व) को तू अविनाशी जान । इस अविनाशी का नाश करने में कोई समर्थ नहीं है ॥ १७ ॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥

अन्तवंत इति । अनाशिनः कदापि नाशानर्हस्य । अत एव । नित्यस्य संततविद्यमानस्य । अप्रमेयस्येंद्रियादिभिः । अमातुमशक्यस्य । शरीरिणः प्राचीनकर्मसंबंधेन शरीराभिमानवतो जीवात्मवर्गस्य । इमे चक्षुरादिकरणैः प्रमेयाः । देहाः । अतो नाशोऽस्ति एषामिति तथोक्ताः । उक्ताः कथिताः । तस्माद्देहात्मनो नाशित्वाऽनाशित्वधर्मवत्त्वाद्धेतोः । हे भारत । युध्यस्व युद्धं कुरुष्व । सर्वथा शोकं त्यजेति भावः ॥ १८ ॥

शरीरधारी नित्य आत्मा के ये (कर्मानुसार प्राप्त होने वाले) शरीर अन्त वाले हैं और आत्मा अप्रमेय है, अतः अविनाशी है, इसलिये भारत ! तू (शोक त्याग कर) युद्ध कर ॥ १८ ॥

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

य इति । यः पुरुषः । एनमात्मानम् । हंतारमन्यात्मनां हिंसकम् । वेत्ति जानाति । यश्च । एनम् । हतमन्यैर्व्यापादितम् । मन्यते । तौ हंतिधातोः कर्तृत्वकर्मत्वाभ्यां विदंतौ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उभौ पुरुषौ। न विजानीत आत्मस्वभावं न वित्तः। तर्हि कथं स वेद्यस्तत्राह। नेति। अयमात्मा। न हंत्यन्यान्न मारयति न हन्यते स चान्यैर्न हन्यते। हननक्रियायाः कर्त्ता कर्म च नास्तीत्यर्थः ॥ १९ ॥

इस आत्मा को जो मारने वाला जानता है तथा जो इसको मरा हुआ मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते; क्योंकि यह न तो मारता है और न मारा जाता है ॥ १९ ॥

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥

नेति। अथवात्मा। कदाचित्। न जायते देहेन सह जन्म नाप्नोति। न म्रियते मरणं च नाप्नोति। भूत्वा कल्पादावुत्पद्य। भूयः पुनः। न भविता कल्पांते न मरिष्यति च। तत्र हेतुमाह। अजो जन्मरहितः। अत एव। नित्यो ध्रुवः। शश्वद्भवतीति शाश्वतोऽपरिणामी। पुराणः पुराऽपि नवश्च। तस्माद्धेतोः। अयम्। शरीरे। हन्यमाने सत्यपि न हन्यते वाशब्दौ चार्थौ ॥ २० ॥

यह (आत्मा) न कभी जन्मता है और न मरता ही है। तथा न यह होकर फिर न होने वाला ही है। यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुराण है; अतः शरीर के मारे जाने पर भी यह मारा नहीं जाता ॥ २० ॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ २१ ॥

प्रकारांतरेणैतदेव द्रढयति। वेदेति। यः पुरुषः। एनं जीवात्मानम्। अविनाशिनम्। नित्यम्। अजमजन्मानम्। अव्ययं श्वासशून्यं च। वेद जानाति। सः पुरुषः। हे पार्थ। कं देवादिदेहस्थितेषु। जीवात्मसु कमपि क्षेत्रज्ञम्। कथं हंति न हंत्येव। कं वा प्राणिनम्। कथं घातयति न घातयत्येव। अजन्मादिलक्षणवतश्चेतनवर्गस्य हननक्रियायां स्वतंत्रप्रयोजकर्त्तृत्वयोर्मध्ये नैकमपि संभवतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

जो इस आत्मा को अविनाशी, नित्य, अजन्मा और अव्यय जानता है वह पुरुष कैसे, किस को मरवाता हैं और कैसे, किसको मारता है ॥ २१ ॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २२ ॥

न चात्मनां नित्यत्वे सत्यपि समीचीनदेहवियोगे न शोकनिमित्तमस्तीत्यत्राह वासांसीति। यथा नरो मनुष्यः। जीर्णानि। वासांसि। विहाय त्यक्त्वा। अपराणि। नवानि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वस्त्राणि। गृह्णाति। तथा । देही प्राप्तधर्मयुद्धः शरीरी । जीर्णानि शत्रुकृताभिभवेन गतसाराणि। शरीराणि विहाय नीतिशास्त्रानुसारि युद्धेन संत्यज्य। अन्यानि देवादिसंबधीनि। नवानि नूतनसुन्दरशरीराणि। संयाति सम्यक्प्रकारेणाप्नोति। अतोऽत्रानंदोऽस्ति शोकनिमित्तं तु नास्त्येवेति भावः ॥ २२ ॥

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों का त्याग करके दूसरे नये वस्त्रों को ग्रहण कर लेता है, वैसे ही यह जीवात्मा भी पुराने शरीरों का परित्याग करके अन्य नवीन शरीरों को प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २३ ॥

पूर्वोक्तं तेषामविनाशित्वं प्रकारांतरेण द्रढयति। नेति। शस्त्राणि खड्गादीनि। एनं जीवात्मानम्। न छिंदंति न विदारयंति। पावकोऽग्निः। एनं न दहति। आपो जलानि। एनम्। न क्लेदयंति। मारुतो वायुः। एनं न शोषयति ॥ २३ ॥

इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि इसे जला नहीं सकती, जल इसे गला नहीं सकता और वायु सुखा नहीं सकता ॥ २४ ॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥

तत्र हेतूनाह। अच्छेद्य इति अयं क्षेत्रज्ञः। अच्छेद्यः छेदनार्हायुधैः छेत्तुमशक्यः। अयम्। अदाह्योऽग्निना दग्धुमशक्यः। अक्लेद्यः सलिलैः क्लेदयितुमशक्यः। अशोष्यो वायुना शोषयितुमशक्यः। अत एव। अयमात्मा। नित्यः सर्वगतः सर्वत्र देहेंद्रियादिषु व्याप्य स्थितः। स्थाणुं स्थिरस्वभावः। अचलोऽप्रकंप्यः सनातनोऽनादिसिद्धश्चैव भवति। कदापि स नोत्पन्न एवेत्यर्थः ॥ २४ ॥

क्योंकि यह अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य है एवं नित्य सर्वव्यापी व्यापी स्थिरस्वभाव, अचल और सनातन है ॥ २४ ॥

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥

अव्यक्त इति। अयमात्मा। अव्यक्तः देहादिवप्रत्यक्षतया चक्षुरादिकरणैर्न व्यज्यत इति तथोक्तः। अयम्। अचिंत्यो देहादिवच्चिंतयितुमशक्यः। देहादिभ्यो विजातीयत्वादिति भावः। अयम्। अविकार्यो विकारं प्राप्तुमयोग्यः। अपरिणामित्वादस्येति भावः। उच्यते इति प्रत्येकं योजनीयम्। तस्मादस्यैवंभूतस्वभावत्वाद्धेतोः एवमुक्तरीत्या। त्वम्। एनं जीवात्मानम्। विदित्वा। अनु पश्चात् शोचितुम्। नार्हसि योग्यो न भवसि ॥ २५ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तथा यह अव्यक्त अचिन्त्य और निर्विकार कहलाता है, अतएव इसे ऐसा जान कर तुझे (इसके लिए) शोक नहीं करना चाहिये ॥ २५ ॥

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥

तदेवमात्मनामुत्पत्तिलयाभावाच्छोको न कार्य इत्युक्तमिदानीं तेषां देहैः सह तौ मत्वाऽपि शोचितुं नार्हसीत्याह । अथेति । हे महाबाहो अथ च यद्यपि । त्वम् । एनमात्मवर्गम् । नित्यजातं देहेन सह मुहुर्जन्मवंतम् । नित्यं देहवत्पुनः । पुनरित्यर्थः । मृतं मरणधर्मवंतं च । मन्यसे । तथापि । एवं कथं भीष्ममहं तत्संख्ये इत्याद्युक्तप्रकारेण । शोचितुम् । नार्हसि । वाशब्दश्चार्थे ॥ २६ ॥

महाबाहो ! यदि तू इसे सदा जन्मने और सदा मरने वाला (शरीर) ही माने, तो भी तुझे इस प्रकार शोक करना उचित नहीं है ॥ २६ ॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥

कुत इत्यपेक्षायामाह । जातस्येति । हि यस्मात्कारणात् । जातस्य प्रारब्धकर्मणोत्पन्नस्य देहस्य ध्रुव आवश्यकः । मृत्युः प्रारब्धकर्मक्षयो मरणमस्ति । मृतस्य । जन्मचोत्पत्तिरपि । ध्रुवं निश्चितमेवास्ति । तस्माद्धेतोः अपरिहार्ये सर्वथा त्यक्तुमशक्ये । अर्थे जनिमृतिरूपे । त्वम् । शोचितुम् । नार्हसि ॥ २७ ॥

क्योंकि जन्मे हुए की मृत्यु निश्चित है और मरे हुए का जन्म निश्चित है; अत एव इस अनिवार्य (अवश्यम्भावी) परिणाम के लिये तुझे शोक नहीं करना चाहिये ॥ २७ ॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥

प्रकारांतरेणाशोचनमेव द्रढयति । हे भारत । भूतानि देवमनुष्यादीनि । अव्यक्तः साक्षान्न दृष्ट आदिः पूर्वावस्थानं येषां तानि व्यक्तं सम्यग्दृष्टं मध्यावस्थानं येषां तानि । अव्यक्तं सन्न दृष्टं निधनं मरणकालो येषां तथाभूतान्येव संति । तत्र तेषु । का परिदेवना कः शोकनिमित्तो विलापः कार्यः कदापि त्वत्सदृशैस्तु न कार्य एवेत्यर्थः ॥ २८ ॥

हे भारत, इस मनुष्यादि शरीरों की आदि यानी पूर्वावस्था प्रत्यक्ष नहीं है और निधन यानी मरण के बाद की अवस्था भी प्रत्यक्ष नहीं है, केवल मनुष्यत्वादि मध्य की यानी वर्तमान अवस्था ही प्रत्यक्ष है; फिर इनके विषय में चिन्ता कैसी ? ॥ २८ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥ २९ ॥

ननु लोके ज्ञानिनोऽपि शोचंतीति चेद्यथार्थात्मस्वरूपज्ञानाभावादेवेत्याशयेन तदुर्ज्ञेयत्वमाह । आश्चर्यवदिति । कश्चित् महापुरुषसेवया महत्तपसा वा क्षीणदुष्कृत उदितपुण्यश्च पुरुषः । आश्चर्यवदवस्थितम् एनं देहादिभ्यो विजातीयात्मानम् । पश्यति । तथैव । अन्य एतादृशः कश्चित्पुरुषः । आश्चर्यवदवस्थितमेनम् । वदति परस्मै कथयति । अन्यः कश्चित् तादृशपुरुषः आश्चर्यवदवस्थितम् । एनम् । शृणोति तत्त्वतः श्रवणगोचरं करोति श्रुत्वाऽपि । चकारात् दृष्ट्वा गदित्वाऽपि । कश्चिज्जनः । एनम् । यथार्थतत्स्वरूपमित्यर्थः । नैव वेद ॥ २९ ॥

कोई एक ही इस आत्मा को आश्चर्य की भाँति देखता है, तथा कोई एक ही इसका आश्चर्य की भाँति वर्णन करता है। इसी तरह दूसरा कोई एक ही इसे आश्चर्य की भाँति सुनता है। पर सुनकर भी इसके यथार्थ स्वरूप को कोई नहीं जानता ॥ २९ ॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ३० ॥

अथ चेतनाचेतनविवेकेन यदशोच्यत्वं तदुपसंहरन्नाह देहीति । हे भारत । सर्वस्य ब्रह्मादिस्थावरांतस्य देहिनः । जातित्वादेकवचनम् । देहे शरीरे । अयं स्थितोऽसौ । देही जीवात्मा । नित्यं सर्वस्मिन्काले अवध्यः । सर्वेषां देहेषु तत्स्थितात्मनां वधो नैव जायते इत्यर्थः । तस्माद्धेतोः । त्वम् । सर्वाणि । भूतानि देहविशिष्टात्मवृंदानि । तान्युद्दिश्येत्यर्थः । शोचितुम् । नार्हसि । तर्हि केवलभीष्मादीनुद्दिश्य कथं शोकविधाऽनार्हो भवेः न भवेरेवेति भावः ॥ ३० ॥

भारत! सब के शरीर में रहने वाला यह आत्मा सदा ही अवध्य है। अतः इन सब प्राणियों के लिये तुझे शोक नहीं करना चाहिये ॥ ३० ॥

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ ३१ ॥

इदानीं वेपथुश्च शरीरे ते एतद्विधार्जुनवाक्यं निराकुर्वन्नाह स्वेति । शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनमेतद्विधं स्वस्य क्षत्रियस्य धर्मं भूभारावतारणात्मिका भगवदाज्ञा भक्तेन मयाऽवश्यं पालनीयैतद्विधं वा स्वस्य मद्भक्तस्य तव धर्मम् । अवेक्ष्य विचार्यापि । विकंपितुम् एतस्माद्युद्धान्निवर्त्तितुमित्यर्थः । नार्हसि त्वं योग्यो न भवसि । हि यस्मात्कारणात् । धर्म्याद्धर्मादनपेताद्युद्धाद्धर्मयुद्धादित्यर्थः । अन्यद्भिक्षाशनात्मकब्राह्मणवर्त्तनम् । क्षत्रियस्य तव । श्रेयः श्रेयस्करम् । न विद्यते ॥ ३१ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(युद्धरूप) अपने धर्म को भी देखकर तुझे घबड़ाना नहीं चाहिये; क्योंकि क्षत्रिय के लिये धर्मरूप युद्ध से बढ़कर दूसरा कुछ भी कल्याणकारक नहीं है ॥ ३१ ॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥

इदृशं धर्मयुद्धं पुण्यवंतः क्षत्रियाः प्राप्नुवंतीत्याह । यदृच्छयेति । हे पार्थ । यदृच्छया दैवेच्छया । उपपन्नम् । भूरावतरणाय वसुदेवपुत्रतया प्रादुर्भूतदेवाधिदेवपरब्रह्मणो ममेच्छया प्राप्तमित्यर्थः । अपावृतमुद्घाटितकपाटम् । स्वर्गस्य सुरलोकस्य मद्धाम्नो वा द्वारं गोपुरभूतम् । ईदृशं धर्मादनपेतम् । युद्धम् । सुखिनः पुण्यवंतः । क्षत्रियाः लभंते ॥ ३२ ॥

पार्थ ! अपने-आप प्राप्त यह (स्वधर्मरूप युद्ध) स्वर्ग का खुला द्वार है। भाग्यशाली क्षत्रिय ही इस प्रकार के युद्ध को पाते हैं ॥ ३२ ॥

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

विपक्षे दोषमाह । अथेति । अथ चेत् । त्वम् । धर्म्यं क्षत्रियधर्मरूपम् । इममारब्धमेतम् । संग्रामम् । न । करिष्यसि । ततस्तर्हि । स्वधर्मं पूर्वतरश्लोकोक्तम् । कीर्तिंशूरत्वविख्यातिं च । हित्वा । पापं मदिच्छाविरुद्धाचरणदोषम् । अवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

अब यदि तू इस धर्मरूप संग्राम को नहीं करेगा, तो अपने धर्म को और कीर्ति को खोकर पाप को प्राप्त होगा ॥ ३३ ॥

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

अकीर्त्तिमिति किं चेति चार्थः । भूतानि सकलजना अपि । ते तव । अव्ययां सर्वत्र व्यापिनीम् । अकीर्त्तिं महाशूरोऽर्जुनः समीपागतसंग्रामात्पलायित इत्येवंभूतापयशः । कथयिष्यन्ति । संभावितस्य प्रतिष्ठितपुरुषस्य । अकीर्त्तिश्चापयशस्तु । मरणात् । अतिरिच्यते अधिका भवति । सद्गुणैः प्रख्यातस्य पुंसोऽपकीर्त्तेः सकाशान्मरणमेव श्रेय इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

(इतना ही नहीं) सब लोग तेरी सब जगह सदा रहने वाली अकीर्ति की भी चर्चा करेंगे। प्रतिष्ठित पुरुष के लिये अकीर्ति मरने से भी अधिक (बुरी) होती है ॥ ३४ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥

ननु संबंधस्नेहेन दयया वा युद्धान्निवृत्तस्य मेऽपकीर्त्तिः कथं भविष्यतीत्यत्राह । भयादिति । महारथाः प्रतिपक्षिसैनिकाः । त्वाम् । भयाद्धेतोः । रणादतिक्रूरसंग्रामात् । उपरतं विरामं प्राप्तम् । मंस्यंते । अतः । त्वम् । येषां शूराणां दुर्योधनादीनाम् । बहुमतः सर्वेषां वैरिणां मध्येऽयमर्जुन एवास्मन्मूलोच्छेदको महाशूरवीरशत्रुरस्तीति बहुसंमतः । भूत्वा लाघवमल्पसारत्वम् । यास्यसि प्राप्स्यसि च ॥ ३५ ॥

जिनका तू बड़ा माननीय है (उन्हीं के मत में अब) तुच्छता को प्राप्त हो जायगा । वे महारथी तुझे भय के कारण युद्ध से विरत हुआ मानेंगे ॥ ३५ ॥

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥

अवाच्येति । किं च । तव । अहिता दुर्योधनादिशत्रवः । तव । सामर्थ्यं शंकरपराजयाद्यसाधारणप्रभावम् । निंदंतोऽन्यत्र तस्य पराक्रमोऽस्तु महाशूराणामस्माकं पुरतस्त्वेष स्थातुमपि न शक्य इति कुत्सां कुर्वंतः संतः । बहून्बहुविधान् । अवाच्यवादान्वचनानर्हशब्दांश्च । वदिष्यंति । नु इति वितर्के । ततो निंदायाः सकाशात् । किं दुःखतरं किमधिकं दुःखमन्यत्किमपि नेत्यर्थः ॥ ३६ ॥

तेरे शत्रु मेरी शक्ति की निन्दा करते हुए तुझे बहुत से न कहने योग्य दुर्वचन भी कहेंगे । इससे बढ़कर दुःख फिर क्या होगा ? ॥ ३६ ॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥

अतः शत्रुभिस्त्वयि हते सति त्वया वा तेषु हतेष्वपि । श्रेय एव भविष्यतीत्याह । हत इति । हे कौंतेय । हतो वा धर्मयुद्धे शत्रुभिस्त्वं हतश्चेत् । स्वर्गं परं कल्याणं प्राप्स्यसि । अनन्यमद्भक्तत्वादिति भावः । जित्वा वा शत्रून्पराजष्यसि चेत् । महीं सार्वभौमं राज्यं भोक्ष्यसे । तस्मात्पक्षद्वयेऽपि लाभप्राप्तिहेतुत्वात् । युद्धाय युद्धं कर्त्तुम् । कृतो निश्चयो येन तथोक्तः सन् । उत्तिष्ठ सावधानो भव । मद्भक्तानामपि क्षत्रियाणां धर्मयुद्धे स्वर्गप्राप्तिर्मयि हृज्ञनोवृत्तिसंयोज्य मृतानां तथाविधानामपि तेषां मोक्षप्राप्तिर्मदाज्ञानुसृतानां मदनन्यभक्तानां तु परमात्यंतिककल्याणाप्तिरस्तीति सिद्धांतः ॥ ३७ ॥

कुन्तीपुत्र अर्जुन ! यदि तू (युद्ध में) मारा गया तो तुझे स्वर्ग प्राप्त होगा; नहीं तो (शत्रुओं को) जीतकर पृथ्वी को भोगेगा । अतः युद्ध का निश्चय करके उसके लिये खड़ा हो जा ॥ ३७ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

इदानीं पापमेवाश्रयेदस्मानिति यदुक्तं तत्रोत्तरमाह । सुखेति । सुखदुःखे समे तुल्ये । कृत्वा । लाभालाभौ जयाजयौ च । समौ कृत्वा ततोऽनंतरम् । नाकांक्षितस्वर्गादिफलः सन्नित्यर्थः । युद्धाय युज्यस्व योद्धुं तत्परो भव । एवमित्थं कृते सति । त्वम् । पापं मायिक-सुखदुःखात्मकं संसारम् । न । अवाप्स्यसि । प्रत्युत संसारं बंधनात्सद्यो मोक्ष्यसीति भावः ॥ ३८ ॥

सुख-दुःख, लाभ-हानि और जय-पराजय को समान करके उसके बाद तू युद्ध आरम्भ कर । इस प्रकार करने से तू पाप को प्राप्त नहीं होगा ॥ ३८ ॥

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥

एवं यथार्थात्मज्ञानमुक्त्वेदानीं मोक्षसाधनभूतकर्मयोगं प्रस्तौति । एषेति । हे पार्थ । सं सम्यक् ख्यायते प्रकाश्यते वस्तुतत्वमनेनेति सांख्यं तस्मिन् । एषा आत्मनिरूपणरूपा । बुद्धिः । ते तुभ्यम् । अभिहिता मयोक्ता । योगे मोक्षसाधनभूतकर्मयोगे तु । इमां वक्ष्यमाणां बुद्धिम् । शृणु । यया बुद्ध्या येन ज्ञानेन । युक्तः । त्वम् । कर्मबंधं संसारम् । प्रहास्यसि त्यक्ष्यसि ॥ ३९ ॥

पार्थ ! यह बुद्धि तुझे सांख्य के विषय में कह दी गयी । अब कर्मयोग के विषय में उस बुद्धि को तू सुनो । जिस बुद्धि से सम्पन्न होकर तू कर्मबन्धन का भलीभाँति त्याग कर सकेगा ॥ ३९ ॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ४० ॥

वक्ष्यमाणस्य बुद्धियोगयुक्तकर्मयोगस्य माहात्म्यं वदति । नेहेति । इह बुद्धियुक्तकर्म-योगे । अभिक्रम्यते प्रारभ्यते सोऽभिक्रमस्तस्य नाशो निष्फलत्वम् । नास्ति । आरब्धस्यापरि-समाप्य न संबंधिकर्मणोंऽतर्विच्छेदेऽपि विफलत्वं न भवतीत्यर्थः । प्रत्यवायश्च । न विद्यते । अस्य मत्प्रसन्नतार्थं विधीयमानस्य कर्मयोगाख्यस्य । धर्मस्य । स्वल्पमल्पमात्रमपि । महतो भयाज्जनिमृतिरूपत्रासात् । त्रायते रक्षति । इतरल्लौकिकवैदिककर्म तु नैवं भूतमिति तत्वम् ॥ ४० ॥

यहाँ (इस कर्मयोग में) आरम्भ का नाश नहीं है तथा प्रत्यवाय भी नहीं है । इस धर्म का थोड़ा-सा भी अंश बड़े भारी भय से रक्षा कर लेता है ॥ ४० ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१ ॥

काम्यकर्मासक्तबुद्धेः सकाशान्मोक्षसाधनरूपां तां प्रशंसति । व्यवसायेति । हे कुरुनंदन अर्जुन । इह शास्त्रीयकर्मणि । व्यवसायः स्वयमात्मस्वरूपो भूत्वा श्रोतव्यो ध्यातव्योपास्याराध्य प्राप्यसेव्यतया सर्वांतर्यामिणि मयि यो निश्चयः स आत्मा स्वरूपं यस्यास्तथोक्ता । बुद्धिः । एकाऽस्ति । न विद्यते व्यवसाय उक्तविधनिश्चय एषां तेषाम् । बुद्धयः । बहवः शाखा अनेकपदार्थप्राप्तिनिश्चयरूपा यासां ताः । अत एव अनंताः । संति हि । सकामत्वेन स्वर्गस्त्रीपुत्रधनाद्यनेकफलासक्तित्वादिति भावः ॥ ४१ ॥

कुरुनन्दन ! इस (शास्त्रीय कर्म) में निश्चयात्मिका बुद्धि एक होती है और निश्चयहीन मनुष्यों की बुद्धियाँ अनन्त एवं बहुत शाखाओं वाली होती हैं ॥ ४१ ॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ ४२ ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥

ननु सकामा अपि दुःखरूपकामान्निसृज्योक्तां मोक्षात्मिकां बुद्धिं कथं न कुर्वंतीत्याशंक्य तेषां वेदवादरतत्वादित्याह त्रिभिः । यामिति । कामात्मान इति । हे पार्थ वेदेषु ये वादाः स्वर्गभोगप्राप्त्यादिफलवादास्तेषु रताः प्रसक्ताः । अत एव । अन्यत्स्वर्गसुखादितरत् । नास्ति किमपि सुखं न भवति । इत्येवम् । वादिनः प्रजल्पनशीलाः अतः । कामेषु मायिकभोगेष्वासक्त आत्मा मनो येषां ते अतः । अविपश्चिनो मूढाः । सर्वोत्तममदीयसुखानभिज्ञा इत्यर्थः । अतः । भोगाश्च ऐश्वर्याणि च तेषां गतिः प्राप्तिस्तां प्रति तदर्थम् । क्रियाणां विशेषा अग्निहोत्रादयस्ते बहुला यस्यां ताम् । जन्म पुनरिहावृत्तिश्च कर्माणि यज्ञादिक्रियाश्च फलान्यन्तवत्सुखानि च तानि प्रददातीति तथोक्तम् । पुष्पितां विषलतावदापातरमणीयाम् । इमां स्वर्गादिफलबोधिकाम् । याम् । वाचम् । प्रवदंति विकत्थंते । इति द्वयोरेकान्वयः ॥ ४२–४३ ॥

पार्थ ! केवल फलश्रुति में रत, (स्वर्गादि सांसारिक सुखों से बढ़कर) और कुछ नहीं है ऐसे कहने वाले, स्वर्गपरायण, विषयासक्त, अल्पज्ञ, मनुष्य पुनर्जन्मरूप कर्मफल देने वाली, भोग-ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये भाँति-भाँति की बहुत-सी क्रियाओं से युक्त, जिस पुष्पित (सुहावनी) वाणी को कहा करते हैं ॥ ४२–४३ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥

भोगेति भोगश्चैश्वर्याणि च तेषु प्रसक्तानाम् । तया वाचा कर्त्र्या । अपहृतं प्रत्यक्षममत्स्वरूपाद्वहिर्भूतं चेतो येषां तेषाम् । समाधिश्चित्तैकाग्र्यं प्रत्यक्षमत्स्वरूपाश्रयस्तस्मिन् । व्यवसायात्मिका । बुद्धिः । न विधीयते नोत्पद्यते । कर्मकर्त्तरि योगोऽयम् ॥ ४४ ॥

उस वाणी के द्वारा अपहरण किये हुए मन वाले, भोग-ऐश्वर्य में अत्यन्त आसक्त मनुष्यों के मन में निश्चयात्मिका बुद्धि उत्पन्न नहीं होती ॥ ४४ ॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ ४५ ॥

ननु जीवानां महत्सुखं प्रदानाय प्रवृत्ता वेदाः कथं सकामकर्मफलान्युपदिशंतीत्यत्राह । त्रैगुण्येति । हे अर्जुन । वेदा निगमाः । त्रयो गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि प्रचुराः संत्येषु तेषां जनानां विषयास्तदनु गुणदेवतोपासनवर्णनेन तदभिलषितस्वर्गादिफलबोधकाः संति । सदा दिव्यसाकारमूर्त्तेर्मम प्राप्तिसाधनभूतोपनिषद्ज्ञानबोधकत्वे स्वयं निर्गुणा वेदा यदि सकामानां स्वर्गादिफलं न बोधयेयुश्चेदनुपाये उपायभ्रांत्या ते भ्रष्टा भवेयुरिति भावः । त्वं तु । त्रयाणां तमोरजोमलिनसत्त्वानां गुणानां भावस्त्रैगुण्यं निर्गतं त्रैगुण्यं यस्मात्सनिष्कामः भव । तत्रोपायमाह । निर्द्वन्द्वः सुखदुःखादिद्वंद्वरहितो भव । नित्यं सत्त्वे तिष्ठतीति तथोक्तः सन् धैर्यमाश्रयेत्यर्थः । अप्राप्तसंपादनं योगः प्राप्तसंरक्षणं क्षेम च ते निर्गते यस्मात्सः । त इहित इत्यर्थः । आत्मवानात्मरूपेण परमात्मनि मयि स्थिरश्च भव । अन्यथा निस्त्रैगुण्यत्वं न भवेदित्यर्थः ॥ ४५ ॥

वेद (सत्त्व, रज और तम—इन) तीनों गुणों वाले मनुष्यों को विषय करने वाले हैं, तू इन तीनों गुणों की अधिकता से रहित, सदा सत्त्वगुण में स्थित, समस्त द्वन्द्वों से अतीत और योग (सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति) तथा क्षेम (उनकी रक्षा) को न चाहने वाला एवं आत्मपरायण हो ॥ ४५ ॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥

ननु वेदोक्तार्थत्यागेन व्यवसायात्मिका बुद्धिरप्यप्रमाणभूतैवेत्याशंक्य तत्र यावान्मोक्षोपयोगी तावानेव ग्राह्य इत्याह । यावानिति उदकं पीयतेऽस्मिन्नित्युदपानं वापी कूपादि तस्मिन् । सर्वतः संप्लुतं परिपूर्णमुदकं यस्मिंस्तस्मिन्महाह्रदेऽपि । यावत् । अर्थोऽभः प्रयोजनं भवेत् । तावांस्तावदेव जलं गृह्णन् सर्वम् । तथैव । विज्ञानत आत्मपरमात्मप्राप्तिसाधनविदः । ब्रह्मणः परमात्मनोऽयं ब्राह्मणस्तस्य मद्भक्तस्य । सर्वेषु चतुःपुरुषार्थनिष्ठजनबोधकेषु समस्तेषु ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वेदेषु। तावान् ब्रह्मरूपभवनसाधनम् उपासनमाहात्म्यज्ञानादि यावदुपयोगि तावदेव ग्राह्यं न त्वन्यदित्यर्थः ॥ ४६ ॥

जैसे सब ओर से परिपूर्ण जलाशय में (प्यासे मनुष्य को जितना आवश्यक होता है उतना ही जल ले लेता है) वैसे ही वेदविद् ब्राह्मण को समस्त वेदों में जितना अंश आवश्यक हो उतना ही (ग्रहण करना चाहिये।) ॥ ४६ ॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

अथ तस्याधिकारं दर्शयन्नाह। कर्मणीति। हे अर्जुन। ते मद्भक्तस्य तव। कर्मणि मत्प्रसन्नताहेतुभूतक्रियायामेव। अधिकारोऽस्तु। कदाचन क्वापि। फलेषु बंधहेतु-तत्फलेषु। अधिकारो माऽस्तु। त्वम्। कर्मफलस्य हेतुर्जनकः। मा भूः। मद्भक्तेन त्वया त्वनासक्त्या मदाज्ञापालनीयेत्यर्थः। ते तव। अकर्मणि युद्धकर्मफलं मम बंधकं भविष्यतीति भयेनैतदकरणे। संग आग्रहः। माऽस्तु ॥ ४७ ॥

तेरा कर्मों में ही अधिकार है, (उनके) फलों में कभी नहीं। अतः तू कर्म-फल का हेतु मत हो। तथा कर्म न करने में भी तेरी आसक्ति न हो ॥ ४७ ॥

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ ४८ ॥

योगस्थ इति। हे धनंजय। त्वम्। योगे तिष्ठतीति तथोक्तः सन्। संगं कर्तृत्वाभि-निवेशम्। त्यक्त्वा। सिद्धिर्जयश्च असिद्धिरजयश्च तयोः सुखदुःखयोर्वा विषये। समो भूत्वा। कर्माणि युद्धादीनि कुरु मत्प्रीत्यै विधत्स्व। यतः। समत्वमेवंविधं समचित्तत्वमेव। योगः। उच्यते ॥ ४८ ॥

धनंजय! योग में स्थित हुआ आसक्ति को त्याग कर तथा सिद्धि और असिद्धि में भी सम होकर तू कर्म कर। इस समता का ही नाम योग है ॥४८॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९ ॥

उक्तलक्षणयोगात्काम्यकर्मणामतिनिकृष्टत्वं प्रतिपादयन्नाह त्रिभिः। दूरेणेति। हे धनं-जय। बुद्ध्या आत्मपरमात्मानुसंधानरूपज्ञानेन युक्तो यो योगः सिद्ध्यसिद्धिसमत्वाख्यस्त-स्मात्। कर्म काम्यकर्म। दूरेणावरमत्यंतनिकृष्टं भवति। अत एव। बुद्धौ कर्मयोगांतर्गतज्ञाने। शरणमाश्रयं स्थितिम्। अन्विच्छ निष्काममदाराधनात्मककर्मयोगं कुरु। हि यस्मात्कारणात्। फलहेतवः कर्मफलेच्छवो नराः। कृपणा अतिरंकाः संति। कर्मफलाभिलाषिणः संसरंतीति भावः ॥ ४९ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्योंकि धनंजय ! बुद्धियोग की (बुद्धियुक्त कर्मों को) अपेक्षा अन्य कर्म अत्यन्त तुच्छ है, अतः तूं बुद्धियोग के ही आश्रय की इच्छा कर । फलासक्ति-पूर्वक कर्म करने वाले दीन हैं ॥ ४९ ॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ ५० ॥

बुद्धीति । बुद्ध्या कर्मयोगांतर्गतज्ञानेन युक्तो मद्भक्तः । इहास्मिन्नेव जन्मनि । सुकृतं स्वर्गादिप्रापकपुण्यं च दुष्कृतं निरयप्रापकपापं च ते । उभे । जहाति मदनुग्रहेण त्यजति । तस्माद्धेतोः । त्वम् । योगाय फलानुसंधानरहितमदाराधनात्मककर्मयोगं कर्त्तुम् । युज्यस्व तत्परो भव । यतः । कर्मसु । यत् । कौशलं बंधनकर्त्तॄणामपि तेषां मदाराधनेन मत्प्रसन्नतानुसारिमत्सेवारूपमुक्तिफलत्वसंपादना चातुर्यम् । सः । योगः । उच्यते ॥ ५० ॥

बुद्धियुक्त मनुष्य पुण्य और पाप दोनों का यहीं परित्याग कर देता है । अतः तूं कर्मयोग के लिये चेष्टा कर, कर्मों में यह योग ही कुशलता है ॥ ५० ॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ५१ ॥

तदेव कौशलं विवेचयन्नाह । कर्मजमिति । बुद्धियुक्ता कर्मयोगांतर्गतज्ञानयोगाढ्याः । मनीषिणो हि सच्छास्त्राभ्यासजन्यसदसद्विवेकवंतो मद्भक्ता एव । कर्मजं शास्त्रविहितकर्मकरणेनोत्पन्नम् । फलम् । त्यक्त्वा भगवति मय्यर्पणेन तद्भोगेच्छां विसृज्येत्यर्थः । जन्मबंधाज्जन्ममरणरूपसंसारबंधनाद्विनिर्मुक्ताः संतः । अनामयं दुःखमात्ररहितम् । पदं ममाखंडनिवासस्थानं ब्रह्मपुरम् । गच्छंति प्राप्नुवंति ॥ ५१ ॥

कर्मजनित फल का त्याग करके (कर्म करने वाले) बुद्धि योग से युक्त विवेकी पुरुष जन्मरूप बन्धन से मुक्त होकर निरामय पद (मोक्ष) को प्राप्त कर लेते हैं ॥ ५१ ॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ ५२ ॥

तत्पदप्रापकयोगमहं कदा प्राप्स्यामीत्यपेक्षायामाह द्वाभ्याम् । यदेति । यदा । ते तव । बुद्धिः । मोहो दैहिकाहंममत्वाभ्यां मायिकविषयासक्तिरूपविपरीतज्ञानं स एव कलिलं गहनं दुर्गमस्थानमित्यर्थः । व्यतितरिष्यति निःशेषत्वेनातिक्रमिष्यति । तदा । त्वम् । श्रुतस्यातः पूर्ववर्णितस्य । श्रोतव्यस्यातः परं श्रवणार्हस्य च कर्मफलस्य । निर्वेदं वैराग्यम् । गंतासि स्वयं प्राप्स्यति ॥ ५२ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(इस प्रकार कर्म करते-करते) जब तेरी बुद्धि मोक्षरूप कीचड़ से पार हो जायगी, तब तू पहले सुने हुए और भविष्य में सुने जाने वाले (सब प्रकार के फलों से स्वयं ही) विरक्त हो जायगा ॥ ५२ ॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

श्रुतीति । यदा च । श्रुत्याऽस्मदादिभ्यः शास्त्रीयाध्यात्मज्ञानश्रवणेन विप्रतिपन्ना सदसद्विवेकं प्राप्ता । अत एव । अचलैकरूपा ते तव । बुद्धिः । समाधीयते स्थिरीक्रियते चित्तमस्मिन्निति समाधिः साक्षात्परमात्माऽहं तस्मिन्मयि निश्चला स्थास्यति कायवाङ्मनोभिरयमेवानुसरणीय एवंभूता स्थिरा भविष्यति । तदा । त्वम् । योगं मत्पदप्रापकसाधनभूतमदनुवर्त्तनरूपम् । अवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

(हमारे द्वारा) सुने हुए उपदेश से भलीभाँति प्रतिपन्न हुई तेरी बुद्धि जब स्वयं अचल—एकरूप होकर मन में निश्चलभाव से ठहर जायगी, तब तू (आत्मदर्शनरूप) योग को प्राप्त होगा ॥ ५३ ॥

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥ ५४ ॥

अथार्जुनः पूर्वश्लोकोक्तसमाधिनिष्ठलक्षणानि ज्ञातुं पृच्छति । स्थिते ते । हे केशव । समाधिना श्रीहरौ त्वयि चित्तैकाग्र्येण तिष्ठतीति तथोक्तस्तस्य । अत एव । स्थिप्रज्ञस्य स्थिरबुद्धेः । का भाषा । केन लक्षणेन स्थितप्रज्ञ उच्यत इत्यर्थः । स्थितधीः । किं प्रभाषेत । किमासीत । किं व्रजेत । कथं भाषणमुपवेशनं गमनं च कुर्यादित्यर्थः ॥ ५४ ॥

अर्जुन ने पूछा—केशव ! समाधि में स्थित स्थितप्रज्ञ पुरुष का क्या लक्षण है ? वह स्थिरबुद्धि पुरुष कैसे बोलता है ? कैसे बैठता है ? और कैसे चलता है ? ॥ ५४ ॥

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥

यानि सिद्धस्य स्वाभाविकलक्षणानि तान्येव साधकस्य ज्ञानसाधनान्यतः सिद्धस्य । तानि ब्रुवन्नेवांतरंगानि ज्ञानसाधनान्याह यावदध्यायसमाप्ति तत्राद्यप्रश्नोत्तरं वक्ति द्वाभ्याम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रजहातीति । हे पार्थ । आत्मनि क्षराक्षराभ्यां परे तदंतर्यामिणि च मय्येव । आत्मना मनसा । तुष्टः संतोषयुक्तः सदा मन्मननादिना संतुष्टः सन्नित्यर्थः । मनोगताननादिकालतो मनसि स्थितान् । सर्वान्प्रकृतिपुरुषसंबंधेनात्मनाम् । कामान् शब्दादिविषयान् । तद्भोग-वासना इत्यर्थः । यदा । प्रकर्षेण जहाति । तदा स्थितप्रज्ञः उच्यते ॥ ५५ ॥

श्रीभगवान् ने उत्तर दिया—पार्थ ! मन से आत्मस्वरूप का चिन्तन करते-करते उसी में सन्तुष्ट हुआ साधक जब अन्य समस्त मनोगत कामनाओं का सर्वथा त्याग कर देता है, तब वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ।। ५५ ।।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ।। ५६ ।।

दुःखेष्विति । किंच । दुःखेषु देहदैहिककष्टेषु प्राप्तेष्वपि । अनुद्विग्नं न क्षुभितं मनो यस्य तथोक्तः । सुखेष्वैहिकस्वर्गादिशर्मसु । विगता स्पृहा यस्य तथोक्तः । अत एव । रागो देहदैहिकेषु प्रीतिश्च भयं जनिमृतिरूपं च क्रोध इच्छाविघातकोपरिरोषश्च वीता मूला-द्विनष्टास्ते यस्य तथोक्तः । मुनिरात्मपरमात्ममननशीलः स पुमान् । स्थितधीः स्थितप्रज्ञ उच्यते । एतैर्लक्षणैरत्युत्कृष्टः स कथ्यत इत्यर्थः ॥ ५६ ॥

दुःख में उद्वेगरहित मन वाला, सुख में स्पृहारहित तथा राग, भय और क्रोध से रहित मुनि स्थिरबुद्धि कहलाता है ।। ५६ ।।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।। ५७ ।।

कथं भाषेतेत्याद्युत्तरमाह । य इति । यो मद्भक्तः । सर्वत्र देहदैहिकेषु । अनभिस्नेहः स्नेहशून्यः अत एव । तत्तद्देहदैहिकसंबंधि । शुभाशुभमनुकूलं प्रतिकूलं च । प्राप्य बाधिता-नुवृत्त्या संगम्य । नाभिनंदति न प्रशंसति । न द्वेष्टि न निंदति । द्वयमपि समजसमित्यु-दासीन एव ब्रूयादित्यर्थः । तस्य । प्रज्ञा बुद्धिः । प्रतिष्ठिता निश्चला भवति ॥ ५७ ॥

जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित हुआ उस-उस शुभ और अशुभ को प्राप्त हकर न हर्ष करता है और न द्वेष, उसकी बुद्धि स्थिर है ।। ५७ ।।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।। ५८ ।।

यदेति । किंच । कूर्मः अंगानि करपादादीनीव । अयं मद्भक्तः । सर्वशः सर्वेभ्यः । इंद्रियार्थेभ्यः प्राकृतशब्दादिभ्यः । यदा च । इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि । संहरतेऽनायासेन प्रत्याकर्षति । तदैव । यस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैसे कछुआ अपने अङ्गों को (समेट लेता है) वैसे ही यह पुरुष जब सब ओर से अपनी इन्द्रियों को इन्द्रियों के विषयों से लपेट लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है ॥ ५८ ॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥

ननु दुःखार्त्तस्वारवर्जितस्व चाज्ञजनस्यापींद्रियाणां विषयेष्वप्रवृत्तेरत्र को विशेष इत्याशंक्य तस्य तेषु रागो न निवर्त्तत इत्याह विषया इति । आहरणं विषयाणामिंद्रियैर्ग्रहण-माहारः निर्गतः आहारो यस्य तस्य । देहिनो देहाभिमानिनोऽज्ञजनस्य । विषयाः । रसेना-व्यक्तरागेण वर्जं रहितं यथा तथा । विनिवर्त्तंते । तदुपभोगो निवर्त्ततेऽपि तदभिलाषस्तु न निवर्तते इत्यर्थः । रसोऽपि रागस्तु । परं मायिकसुखेभ्य आत्मसुखाच्चोत्कृष्टानंदविशिष्टमस्त्व-रूपम् । दृष्ट्वा साक्षात्कृत्य अस्य स्थितप्रज्ञस्य । निवर्त्तंते ॥ ५९ ॥

निराहारी (विषयों से इन्द्रियों को हटा लेने वाले) पुरुष के विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु राग को छोड़कर; (राग निवृत्त नहीं होता) । इस (स्थितधी) पुरुष का तो विषय-राग भी परम (सुखरूप आत्मस्वरूप) का साक्षात् करके निवृत्त हो जाता है ॥ ५९ ॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ ६० ॥

वशीकृतेंद्रियस्य मत्परस्यैव स्थितप्रज्ञता स्यादित्याह द्वाभ्याम्—यतत इति । हे कौंतेय । यततो वस्तुविचारादिप्रयत्नं कुर्वतः । विपश्चितो विवेकिनः । पुरुषस्यापि । मनोऽतःकरणं कर्म । प्रकर्षेण मथंति परं स्वाधीनं कुर्वंति क्षोभयंति वेति प्रमाथीनि बलवंति । इंद्रियाणि कर्तॄणि । हि निश्चितम् । प्रसभं गहनम् । हरंत्याकर्षंति ॥ ६० ॥

अर्जुन ! यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुष के भी मन को ये प्रबल इन्द्रियाँ बलपूर्वक हर लेती हैं ॥ ६० ॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

तानीति । अत एव । युक्त आत्मनिष्ठो मुनिः । सर्वाणि । तानींद्रियाणि । संयम्य मदुक्तधर्मेषु सम्यग् नियम्य । अहं परो मुख्य आराध्यः प्राप्यः सेव्यश्च यस्य तथोक्तः सन् । आसीत तिष्ठेत् । अनेन किमासीतैतदुत्तरम् । हि यस्माद्धेतोः । यस्य मुनेः । इन्द्रियाणि । वशे विषयरागरहिततया स्वाधीनानि भवंति । तस्य प्रज्ञा । प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

अतः योगी को चाहिये कि उन सबको रोककर मुझ में मन लगाकर बैठे । क्योंकि जिसकी इन्द्रियाँ वश में हैं उसकी बुद्धि स्थिर है ॥ ६१ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥

इन्द्रियाणामनियमने दोषमुक्त्वेदानीं मनोऽसंयमने दोषमाह द्वाभ्याम् । ध्यायत इति विषयान्प्राकृतशब्दादीन् । ध्यायतो गुणधिया चिंतयतः । पुंसः प्राणिमात्रस्य । तेषु विषयेषु । संग आसक्तिः उपजायते भवति । संगात् । काम आसक्तेः पक्वावस्थायां प्राप्य जनो विषयभोगं विना स्थातुं शक्यो न भवति साऽवस्था काम इत्यर्थः । स जायते । कामात्केचित्प्रतिहतात्तस्मात् । क्रोधस्तद्भोगेच्छाविघातके रोषः । अभिजायते ॥ ६२ ॥

(मेरे परायण न होकर) विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है, आसक्ति से काम उत्पन्न होता है और काम से क्रोध की उत्पत्ति होती है ॥ ६२ ॥

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ ६३ ॥

क्रोधादिति । क्रोधात् । संमोहः कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेकनाशः । भवति संमोहात् । स्मृतेर्मत्प्रसन्नतायै स्वकृतेन्द्रियजयनिश्चयस्मरणस्य । विभ्रमो भ्रंशो भवति । स्मृतेर्भ्रंशाद्विनाशात् । बुद्धेरात्मानात्मज्ञानस्य नाशः स्यात् । बुद्धेर्यो नाशस्तस्मात् । प्रणश्यति मोक्षप्रापकयोगमार्गाद्भ्रश्यति । संसारी भवतीत्यर्थः ॥ ६३ ॥

क्रोध से विवेकशून्यता होती है; अविवेक से स्मृति का भ्रंश और स्मृतिभ्रंश से बुद्धि का नाश होता है तथा बुद्धि के नाश से वह आप ही नष्ट हो जाता है-(संसारसागर में डूब जाता है) ॥ ६३ ॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥

नन्विन्द्रियाणां विषयप्रवणत्वेन हेतुना रोद्धुमशक्यत्वात्कथं स्थितप्रज्ञत्वं स्यादित्यत्राह द्वाभ्याम् । रागेति । विधेयो वशवर्ती आत्मा मनो यस्य सः । मदाज्ञानुवर्त्तनेन जितमना मद्भक्त इत्यर्थः । आत्मनः स्वस्य वश्यैरुक्तरीत्याऽऽधीनैः । अत एव । रागो रम्येषु प्रीतिश्च द्वेषोऽप्रियेषु वैरं च ताभ्यां वियुक्तै रहितैः । इन्द्रियैः । विषयान्देहनिर्वाहभूतशब्दादीन् । चरन्भुंजानोऽपि । प्रसादमन्तःकरणस्वच्छताम् । अधिगच्छति प्राप्नोति । तु शब्दोऽप्यर्थे । अनेन व्रजेत किमित्यस्योत्तरं वश्येन्द्रियैश्चरेदेतदुक्तम् ॥ ६४ ॥

परन्तु मन को वश में रखने वाला पुरुष राग-द्वेष से रहित और अपने वश में की हुई इन्द्रियों के द्वारा विषयों को भोगता हुआ भी अन्तःकरण की निर्मलता को प्राप्त होता है ॥ ६४ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

प्रसाद इति । प्रसादेंऽतःकरणस्य निर्मलत्वे सति । सर्वदुःखानामाध्यात्मिकादीनाम् । हानिर्नाशः । उपजायते । प्रसन्नं चेतो यस्य तस्य । अस्य मद्भक्तस्य । बुद्धिः । आशु द्रुतम् । पर्यवतिष्ठते हि मय्येव स्थिरा भवति । प्राकृतसुखाद्वियुंज्य मय्येव परमानंदमनुभवतीत्यर्थः ॥ ६५ ॥

अन्तःकरण की निर्मलता से इसके समस्त दुःखों का नाश हो जाता है; क्योंकि प्रसन्नचित्त वाले पुरुष की बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है ॥ ६५ ॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ ६६ ॥

मन्मूर्त्यादिस्मरणे मनोवशीकरणमंतरा किमपि न व्यतीत्याह । नास्तीति । अयुक्तस्य मन्मूर्त्तिगुणचरित्राज्ञादौ न वशीकृतांतःकरणस्य जनस्य । बुद्धिः स्थितप्रज्ञता । नास्ति न भवेत् । अयुक्तस्य तस्य च । भावना न मयि पराभक्तिरपि न भवेत् । अभावयतो मय्यनन्यभावं न कुर्वंतः । शांतिर्न मायिकविषयतृष्णाजन्यदुःखोपरमश्च न भवेत् । अशांतस्येंद्रियैर्विष भोगतृष्णावंतः । सुखमक्षयामितमहासुखम् । कुतः स्यात् । न भवेदेवेत्यर्थः ॥६६॥

अयुक्त (मुझ में मन का निक्षेप न करने वाले) पुरुष की बुद्धि (आत्मविषयक) नहीं होती, और न अयुक्त पुरुष की (आत्मविषयक) भावना ही होती है । भावनारहित पुरुषों को शान्ति नहीं और अशान्त को सुख कहाँ ? ॥६६॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ ६७ ॥

अयुक्तस्य बुद्धिनाशे कारणमाह । इन्द्रियाणामिति । चरतामितस्ततो विषयेषु धावताम् । इंद्रियाणामनु हि इन्द्रियैः सहैव यदवशीकृतं मनः । विधीयते गच्छति । तत्तदेव मनः कर्त्तुः । अस्य योगिनः । प्रज्ञामात्मपरमात्मयथार्थनिश्चयात्मिकां बुद्धिम् । वायुर्विपरितपवनः । अंभसि नावम् । इव । हरति विषयोपहतं करोति ॥ ६७ ॥

क्योंकि विषयों में विचरने वाली इन्द्रियों के पीछे जो मन लगाया जाता है, वह इसकी बुद्धि को वैसे ही हर लेता है, जैसे जल में नौका को वायु ॥ ६७ ॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

तस्मादिति । तस्माद्धेतोः । हे महाबाहो । यस्य पुंसः । इंद्रियाणि श्रोत्रादीनि । सर्वशः सर्वेभ्यः । इन्द्रियार्थेभ्यः प्राकृतशब्दादिभ्यः । निगृहीतानि परावृत्य सर्वथा मयि संयोजितानि स्युरित्यर्थः । तस्य । प्रज्ञा । प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अत एव महाबाहो ! जिसकी इन्द्रियाँ सब ओर से इन्द्रियों के विषयों से रुकी हुई हैं, उसकी बुद्धि स्थिर होती है ।। ६८ ।।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।। ६९ ।।

इदानीं स्थितप्रज्ञानां तदितरेषां चाभिज्ञानलक्षणमाह । येति । या आत्मनः स्वस्य परमात्मनो मम च स्वरूपयथार्थज्ञानवती बुद्धिः । सर्वेषां मन्मदीयप्रसंगहीनानां भूतानां प्राणिनाम् । निशा निशेव निशांऽधकाररूपा । तेषां तदज्ञानताऽस्तीत्यर्थः । तस्यां बुद्धौ । संयमी नियमितेंद्रियो मुनिः । जागर्त्ति जागरूको भवति यथार्थात्मपरमात्मज्ञानवान्वर्त्तत इत्यर्थः । यस्यां विषयभोगचातुर्यबुद्धौ । भूतानि मद्विमुखविषयिजनाः । जाग्रति जागरूकानि संति । सा प्राकृतभोगनिपुणा बुद्धिः । पश्यतः स्वयं ब्रह्मरूपो भूत्वा परब्रह्मणो मम प्रत्यक्षमूर्त्तिमंतरे बहिर्वा निरीक्षतः । मुनेः । निशा रजनीवदप्रकाशवत्यस्तीत्यर्थः ॥६९॥

जो समस्त प्राणियों की रात्रि है, उसमें संयमी जागता है और जिसमें समस्त भूतप्राणी जागते हैं वह आत्मदर्शी मुनि की रात्रि है ।। ६९ ।।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।। ७० ।।

विशेषतोऽस्य शांतिप्रकारमाह द्वाभ्याम् । आपूर्यमाणमिति । यद्वद्यथा । आपो नदीजलानि । आपूर्यमाणं स्वतःपरिपूर्णम् । अचला प्रतिष्ठा स्थितिर्यस्य तम् । समुद्रम् । प्रविशंति स्वजलैः परिपूर्णामन्यस्यापेक्ष्योपेक्षारहितमतो लाभालाभयोरुदासीनं सागरं प्रति सहजतया नदीजलानि यथा प्रविशंतीत्यर्थः । तद्वत्तथा । सर्वे देहनिर्वाहहेतवोऽखिलाः । काम्यंते जनैरिति कामा विषयाः । यम् । प्रविशंत्यायांति प्रारब्धकर्मणैव न तु तदपेक्षयेत्यर्थः । स मद्भक्तः । शांतिमात्मस्वरूपेण मच्चिंतनात्मसुखम् । आप्नोति । अपि । कामकामी न कामेष्विच्छा न भवति तेषु प्राप्तेषु सत्सु क्षोभरहितो भवेदित्यर्थः ॥ ७० ॥

जैसे सब ओर से परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र में (नद-नदियों के) जल (उसमें कुछ भी क्षोभ पैदा न करके) समा जाते हैं, वैसे ही जिस पुरुष में सारे भोग (विना विकार उत्पन्न किये ही) समा जाते हैं, वहीं शान्ति को प्राप्त होता है, भोगों की कामना वाला नहीं ! ।। ७० ।।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

विहायेति । अत एव । यः पुमान् । सर्वान्प्रकृतिपुरुषसंबंधेनोत्पन्नान् । कामान् विहाय समाहात्म्यमद्भक्तिबलेनांतःकरणात्तद्योगेच्छेत्यर्थः । निर्गता स्पृहा तत्प्राप्त्यभिलाषा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यस्य सः । निर्गतोऽहंकारो देहेऽहंभावो यस्य सः । निर्ममो दैहिकचराचरवस्तुषु ममत्वरहितश्च सन् । चरति । प्रारब्धानुसारेण देहनिर्वाहं कुर्वन्नंतर्दृष्ट्यैव वर्त्ततेत्यर्थः । स मद्भक्तः शांतिं निरवधिकामतिशयमत्सुखम् । अधिगच्छति ॥ ७१ ॥

जो सब नियमों को छोड़कर, उनमें निःस्पृह होकर तथा ममता और अभिमान से रहित होकर विचरता है, वह शान्ति को प्राप्त होता है ॥ ७१ ॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥

इति श्रीभगवद्गीतासूषनित्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

प्रकरणार्थं संस्तुवन्नुपसंहरति । एषेति । हे पार्थ एषोक्तप्रकारे यत् । ब्राह्मी ब्रह्मणि बृहद्गुणविशिष्टे सर्वनिगंतरि परब्रह्मणि मयि स योजयित्रीत्यर्थः । स्थितिः स्थितप्रज्ञतात्मिका मद्भक्तवर्त्तनरीतिः । मयोक्तेति शेषः । एनां स्थितप्रज्ञताम् । रूपस्थितिम् । प्राप्य । न विमुह्यति मायिकसुखेषु मोहं नाप्नोति । अन्तम् आबाल्यात्सत्संगत्य भावेनैतद् ज्ञानमंतरा समीपं प्राप्तः कालो देहावसानरूपो यस्य तस्मिन्वृद्धत्वेऽपि वृद्धावस्थायामपीत्यर्थः । अस्यां स्थितो स्थित्वा ससंगत्याऽऽदौ ताः संश्रुत्य तदनुसारेण वर्त्तित्वेत्यर्थः । ब्रह्मणः परब्रह्मणो मम निर्वाणं सुखम् । ऋच्छति प्राप्नोति ॥ ७२ ॥

इति श्रीभगवद्गीताटीकायामन्वयार्थदीपिकायां द्वितीयोऽध्यायः ॥

अर्जुन ! यह ब्राह्मी स्थिति है । इसको पाकर (मनुष्य) फिर मोहित नहीं होता, अन्तकाल में भी इस स्थिति में स्थित होकर आत्यन्तिक सुखरूप ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है ॥ ७२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ तृतीयोऽध्यायः

असंगो यः कर्मयोगस्तृतीये हरितुष्टये।
कथितोऽणुत्वदुष्टत्वे मापहेतोः स्मरस्य च ॥ १ ॥

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥

पूर्वाध्याये तावन्मोक्षसाधनत्वेन देहात्मविवेकबुद्धिरुक्ता तदनंतरमेषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धियोंगे त्विमां शृणिवत्यादिना कर्म चोक्तं तत्र बुद्धियुक्तस्य स्थितप्रज्ञस्य प्रशंसा कृताऽतो बुद्धियोगस्य श्रैष्ठ्यं जानन्नर्जुनस्तयोरेकस्य श्रेष्ठत्वेन निश्चेतुं पृच्छति द्वाभ्याम्। ज्यायसीति। जनैरर्घ्यते याच्यते स्वमनोरथसिद्धय इति हे जनार्दन भक्तमनोरथपूरक। कर्मण इंद्रियप्रसाराधीनक्रियायाः सकाशात्। बुद्धिरिंद्रियनियमरूपा ज्ञाननिष्ठा। ते त्वया। ज्यायसी समग्रमोक्षसाधनेषु उत्तमा। मता। चेत्। तर्हि। हे केशव त्वम्। घोरे हिंसाप्राये। कर्मणि युद्धाख्ये। माम्। नियोजयसि तस्मादुत्तिष्ठेति प्रेरयसि ॥ १ ॥

अर्जुन ने कहा—जनार्दन! यदि आप कर्म की अपेक्षा बुद्धि को श्रेष्ठ मानते हैं तो फिर केशव! मुझे (इस) घोर कर्म में क्यों लगाते हैं?॥ १॥

व्यामिश्रेणैव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

व्यामिश्रेणेति। किंच। व्यामिश्रेण ज्ञानकर्मणोर्मिश्रीभावः क्वचिद् ज्ञाननिष्ठाया मुख्यत्वं क्वचिच्च भवत्प्रसन्नताहेतुकर्मणश्च तथाभूतेनैव। वाक्येन। मे मम। बुद्धिम्। त्वम्। मोहयसीव मोहयसीति। ममाभाति। इवशब्द इत्यर्थे। अत एव। येन ज्ञानकर्मणोर्मध्ये येन साधनेन। अहम्। श्रेयस्त्वत्प्रसन्नतारूपसुखम्। आप्नुयाम्। तत्तथाभूतम्। एकं ज्ञानयोगं कर्मयोगं वा। निश्चित्य निर्धार्य। त्वं वद ॥ २ ॥

आप इन मिले हुए-से बचनों से मेरी बुद्धि को मानो मोह रहे हैं। (अतएव) एक निश्चित बात कहिये जिससे मैं कल्याण को प्राप्त होऊँ॥ २॥

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लोक इति । हे अनघ निष्पापार्जुन । अस्मिन्नानाविधाधिकारयुक्तं एतस्मिन् । लोके मनुष्यलोके । द्वे विधे प्रकारौ यस्याः सा ज्ञानकर्मरूपा । निष्ठा । याऽस्ति सेत्यर्थः । मया । पुरा द्वितीयेऽध्याये । प्रोक्ताऽधिकारिभेदेन 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचनेति' प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतानित्यादिश्लोकेषु कथिता । शुद्धाशुद्धांतःकरणतयाऽधिकारिभेदेन द्वाभ्यां प्रकाराभ्यामेकैव परब्रह्मणि मय्येव निष्ठोक्ता न तु मोहजनका व्यामिश्रतेत्यर्थः । प्रकार-द्वयमेव दर्शयति । ज्ञानेति । सांख्यानाम् । सचेतनाचेतनमत्स्वरूपयथार्थबोधेन शुद्धांतःकरण-त्वादज्ञानाधिकारिणाम् । ज्ञानयोगेन देहादिभ्यः पृथग्भूतात्मरूपेण प्रत्यक्षमत्स्वरूपध्यानयोगेन योगिना ज्ञानयोगाधिकारार्थमंतःकरणशुद्धिद्वारा तत्प्राप्त्यै तदुपायभूतकर्मयोगाधिकारिणां मुमुक्षूणाम् । कर्मयोगेनात्मानात्मनां तदंतर्यामिणो मम । च ज्ञानानुसंधानयुक्ता संगकर्मा-नुष्ठानेन ॥ ३ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—निष्पाप अर्जुन ! इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा पहले मेरे द्वारा कही जा चुकी है । सांख्यों की ज्ञानयोग से और योगियों की कर्मयोग से ॥ ३ ॥

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

मत्प्रसन्नताहेतुकर्माकरणाज्ज्ञानस्थितिं नाप्नोतीत्याह । नेति । पुरुषः । कर्मणां नित्य-नैमित्तिकादिमत्प्रसन्नताहेतुभूतकायवाङ्मनोव्यापाराणाम् । अनारंभादकरणात् । नैष्कर्म्यं ज्ञाननिष्ठाम् । नाश्नुते नाप्नोति । संन्यसनादेव चित्तशुद्धिमंतरा शास्त्रीयकर्मत्यागादपि । सिद्धिमात्यंतिकमोक्षसाधनभूतज्ञानस्थितिम् । न च नैव । समधिगच्छति ॥ ४ ॥

मनुष्य न तो कर्मों के अनारम्भ से ज्ञाननिष्ठा को प्राप्त होता है और न (शास्त्रीय) कर्मों के त्याग से ही सिद्धि को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

संन्यासः कर्मस्वनासक्तिरेव न तु स्वरूपेण केनापि त्यक्तुं शक्यत इत्याह । नहीति । कश्चित्कोऽपि जनः । जातु कर्हिचित् । क्षणे क्षणमात्रमपि । अकर्मकृत्कर्मण्यकुर्वाणः । नहि नैव । तिष्ठति । तत्र हेतुमाह । प्रकृतिजैः प्राचीनकर्मानुगुणस्वभावप्रभवैः । गुणैः सत्त्वादिभिः रागद्वेषादिभिर्वा । सर्वः समग्रजनः । कर्म स्वानुरूपकर्म । अवशः सन् । कार्यते कर्तुं प्रयुज्यते हि नात्र संदेहः । स्वभावानुसृतगुणा एव जनान्स्वानुगुणकर्म कारयंतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

क्योंकि कोई पुरुष क्षणभर भी बिना कर्म किये नहीं रहता । मनुष्यमात्र को प्रकृति से उत्पन्न गुणों से विवश होकर कर्म करना पड़ता ही है ॥ ५ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

अतो मनोवशीकरणमंतरा कर्मत्यागिनं निंदति । कर्मेन्द्रियाणीति । विमूढः प्राचीनाशुभकर्मजनितरागद्वेषादिदूषित आत्मा मनो यस्य सः । यो मनुष्यः । कर्मेन्द्रियाणि । संयम्योपरिष्ठान्निरोध्य । मनसा रागद्वेषाढ्यस्वांतेन । इन्द्रियार्थान् दृष्टश्रुतशब्दादीन् । स्मरंश्चिंतयन्सन् । आस्ते । सः । मिथ्याकपटप्राय आचार आचरणं यस्य तथाभूतो दांभिकः । उच्यते सच्छास्त्रहृद्वेदिभिः कथ्यते असंगिनं कर्तारं प्रशंसन्नाह । य इति । हे अर्जुन । यस्तु मद्भक्तः । मनसा मन्माहात्म्यज्ञस्वांतेन । इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि । नियम्य मदुक्तधर्मेषु निरुध्य कर्मेन्द्रियैः स्वतः कर्मसु प्रवृत्तिशीलैरिंद्रियैः । कर्मयोगं मत्प्रसन्नतायै मदाज्ञापालनरूपम् । असक्तः फलाभिसंधिरहितः सन् । आरभते करोति । सः । विशिष्यते पूर्वोक्तात् श्रेष्ठो भवति ॥ ६-७ ॥

जो पुरुष कर्मन्द्रियों को रोककर मन से इन्द्रियों के विषयों को स्मरण करता बैठा रहता है, वह मूढ़ात्मा मिथ्याचारी कहलाता है ॥ ६ ॥

अर्जुन ! जो पुरुष मन से इन्द्रियों को रोककर आसक्तिरहित हुआ कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग का आरम्भ करता है, वह श्रेष्ठ होता है ॥ ७ ॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

नियतमिति । अत एव । त्वम् । नियतं मद्भक्तत्वान्नित्यप्राप्तं मदाज्ञात्मकम् । कर्म । कुरु । हि यस्मात् । अकर्मणः कर्माननुष्ठानात् । कर्म कर्मानुष्ठानम् । ज्यायः श्रेष्ठं भवति । अकर्मणो मत्प्रसन्नताहेतुभूतैतत्कर्माकर्तुः ते तव । शरीरस्य यात्रानिर्वाहोऽपि । न प्रसिद्ध्येन्न भवेत् ॥ ८ ॥

तू नियत कर्म कर, क्योंकि अकर्म (ज्ञाननिष्ठा) की अपेक्षा कर्म श्रेष्ठ है । अकर्म (ज्ञाननिष्ठा) से तो तेरी शरीर-यात्रा की भी सिद्धि नहीं होगी ॥ ८ ॥

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥

किं च स्वार्थं कर्मकर्ता बध्यते न मदर्थमित्याह । यज्ञार्थादिति । हे कौंतेय । यज्ञो वै विष्णुरिति श्रुतेर्यज्ञो विष्णुरहमेवार्थः प्रयोजनं यस्य तस्मान्मदर्थात् । कर्मणः सकाशात् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्यत्र देहदैहिकपोषणाय कर्मणि क्रियमाणे सति। अयम्। लोको जनसमूहः। कर्मबंधनः कर्मभिर्बध्यते। तत्फलभूतयातनाः प्राप्नोतीत्यर्थः। अतः। तदर्थं मत्प्रसन्नतार्थमित्यर्थः। मुक्तः संगस्तत्फलासक्तिर्येन सः निष्कामः सन्। कर्ममत्प्रसन्नतायै मदाज्ञापालनरूपम्। समाचर सम्यक्कुरु ॥ ९ ॥

यज्ञ के लिये किये जानेवाले कर्म के सिवा अन्य कर्म करने पर यह मनुष्य कर्मबन्धन से बँध जाता है। अत एव अर्जुन! तू आसक्तिरहित होकर यज्ञ के लिये कर्म का भलीभाँति आचरण कर ॥ ९ ॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥

अत्र ब्रह्मवाक्यं प्रमाणयन्यज्ञार्थं कर्माकुर्वतादोषमाह चतुर्भिः। सहयज्ञा इति। प्रजापतिर्ब्रह्मा। पुरा सृष्ट्यारंभे। यज्ञैः सह वर्त्तंत इति सहयज्ञास्ताः। प्रजा देवमनुष्यादि-यज्ञाधिकारिजनान्। सृष्ट्वा। उवाच ताः प्रत्यब्रवीत्। यूयम्। अनेन यज्ञाचरणेन। प्रसविष्यध्वं प्रसूयध्वमुत्तरोत्तरवृद्धिं लभध्वमित्यर्थः। तत्र हेतुमाह। एष यज्ञः। वां युष्माकम्। इष्टानिच्छितान्कामान्मनोरथान्दोग्धि ददातीति तथोक्तोऽस्तु ॥ १० ॥

प्रजापति (भगवान् नारायण) ने पहले प्रजा को रचकर कहा था कि इस (यज्ञ) के द्वारा तुम फूलो-फलो और यह यज्ञ तुम्हें इच्छित भोगों को देने वाला हो ॥ १० ॥

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

देवानिति। अनेन स्वस्वनियमसहितयज्ञविधानेन। देवान्यज्ञभागभोक्तृत्वात्सुदेवा-दीन् यूयम्। भावयताराधयत। ते वासुदेवाद्याः। देवाः। वो युष्मान् याजकान्। भावयंतु वर्द्धयंतु। परस्परमुक्तरीत्याऽन्योन्यम्। भावयंतः संभावयंतो यूयं सर्वा मदीयप्रजाः। परमुत्कृष्टम्। श्रेयः कल्याणम्। अवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

इस (यज्ञ) के द्वारा तुम देवताओं की आराधना करो और वे देवता तुम्हारा पोषण करें। इस प्रकार एक दूसरे को सन्तुष्ट करते हुए तुम दोनों परम कल्याण (मोक्ष) को प्राप्त होओगे ॥ ११ ॥

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥

इष्टानिति। यज्ञैर्भाविता आराधिताः। ते विष्णुप्रभृतयः। देवाः। वो धर्मार्थ-काममोक्षेप्सूनां युष्माकम्। इष्टान्स्वाभिलषितान्। भोगान्। दास्यंते हि समर्पयिष्यंत्येव।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तैर्देवैः । दत्तानन्नादीन् एभ्यः समीचीनवृष्ट्यादिभिः स्वस्य प्रदातृभ्यः सर्वनियंतृपरमेश्वरादिभ्यः । अप्रदायासमर्प्य । यः । भुंक्ते । सः । स्तेनश्चोर एवास्ति ॥ १२ ॥

यज्ञ के द्वारा आराधित देवता तुम्हे अवश्य ही इच्छित भोग देंगे। उनके दिये हुए भोगों को जो पुरुष उन्हें बिना अर्पण किये भोगता है, वह निश्चय ही चोर है ॥ १२ ॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥

एतदेव विशेषेण स्पष्टयति । यज्ञेति । यज्ञस्य स्वेष्टदेवस्य श्रीहरेः शिष्टं समर्पणादवशिष्टमन्नाद्यश्नंतीत्येवंशीलाः संतः सज्जनाः । सर्वाणि यानि किल्बिषाणि तत्संपादनजन्यपापानि तैः । मुच्यंते । त इहिता भवेदित्यर्थः । ये तु । आत्मकारणात्स्वहेतोः स्वस्य भोजनार्थम् । पचंति । न तु भगवदर्थमित्यर्थः । पापाः पापरूपाचरणाः । ते जनाः । अघं पापमेव । भुंजतेऽश्नंति । भगवदसमर्पितत्वात्तन्निष्पादनभवाघत एव पचंतीत्यर्थः ॥ १३ ॥

यज्ञ से बचे हुए (पदार्थों को) खाने वाले सत्पुरुष सब पापों से छूट जाते हैं; परन्तु जो केवल अपने लिये ही पकाते हैं, वे पापी तो पाप ही खाते हैं ॥ १३ ॥

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥

जगच्चक्रप्रवृत्तिं दर्शयन्नाह द्वाभ्याम् । अन्नादिति । अन्नाच्छुक्रशोणितरूपेण परिणतादंधसः । भूतानि जीवस्थूलशरीराणि । भवंति प्रारब्धकर्मानुसारेणोद्भवंति अन्नस्य यः संभव उत्पत्तिः स च । पर्जन्याद्वृष्टेर्भवति । पर्जन्यश्च । यज्ञात् । मद्भक्ताग्निदेवब्राह्मणसदादिद्वारातदंतर्यामिणो मम संतोषणात्मकयागादित्यर्थः । भवति । यज्ञस्तथाभूतयागश्च । कर्मणा स्वस्ववृत्त्यनुसृतनरकृतोद्यमरूपेण समुद्भवतीति तथोक्तम् ॥ १४ ॥

अन्न से सब प्राणी होते हैं, अन्न की उत्पत्ति वर्षा से होती है, वर्षा यज्ञ से होती है और यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है ॥ १४ ॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

कर्मेति । कर्म यज्ञार्थं सद्धनादिसंपादनात्मकोद्यमश्च । ब्रह्मणो वेदादुद्भवतीतिं तथोक्तं विद्धि । वेदात्प्रवृत्तमिति जानीहि । ब्रह्मवेदश्च । जातित्वादेकवचनं वेदाश्च । अक्षरात्परब्रह्मपुरुषोत्तमेन मया विहिताक्षरब्रह्मात्मकनादात्समुद्भवतीति तथोक्तं भवति । तस्मात्परब्रह्मणो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मत्तः सकाशादुत्पन्नत्वात्। ब्रह्म वेदाख्यम्। सर्वगतं महदादिकं सकलदेवोपासनानुष्ठानं प्रतिपादयत्सत्। नित्यम्। यज्ञे ब्रह्मजपतपोद्रव्यादियज्ञकलापे प्रतिष्ठितं प्रतिष्ठां प्राप्तम्। सकलयज्ञा वेदेष्वेवोक्ता इत्यर्थः ॥ १५ ॥

कर्म को तू ब्रह्म (सजीव शरीर) से उत्पन्न हुआ जान और ब्रह्म (शरीर) अक्षर (जीवात्मा) से उत्पन्न हुआ है। इसलिए सर्वगत ब्रह्म (समस्त अधिकारियों को प्राप्त शरीर) सदा ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है ॥ १५ ॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥

अतो यज्ञाननुष्ठाने दोषमाह। एवमिति। हे पार्थ। एवमुक्तप्रकारेण सर्वेषां कर्मफलप्रदातुर्मत्तः सकाशात्। चक्रं नारायणेन मया विहिताक्षरब्रह्मात्मकनादादौ वेदस्ततो वेदोक्तं कर्म ततो यज्ञस्ततः पर्जन्यस्ततोऽन्नं ततो जीवशरीरं ततो वेदोक्तं कर्म ततो यज्ञ एतद्विधमिदं चक्रम्। प्रवर्तितं प्रवृत्तम्। अत एव इह कर्मक्षेत्रे। यः पुमान्। नानुवर्त्तयति मत्प्रसन्नतायै मदनुवृत्या यज्ञान्न करोति। सः अघायुः पापरूपजीवितः। अत एव इन्द्रियाणि मनःश्रोत्राद्यंतर्बाह्यकरणान्यासमंताद्रमयति मायिकविषयभोगान् लालयतीति तथोक्तः। सन्। मोघं निष्फलं यथा तथा। जीवति मदाराधनरहितत्वादिति भावः ॥ १६ ॥

पार्थ! जो इस प्रकार प्रचलित चक्र के अनुसार नहीं चलता है, वह इन्द्रियों में रमण करने वाला पाप-जीवन मनुष्य व्यर्थ ही जीता है ॥ १६ ॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७ ॥

इदानीं देहभानोज्झितस्य परिपक्वज्ञानिनः कर्मानुपयोगमाह द्वाभ्याम्। य इति। यः। मानवः। आत्मशब्दवाच्ये स्वजीवात्मनि परमात्मनि मयि च रतिः प्रीतिर्यस्य सः। अत एव। आत्मतृप्तस्वात्मनः परमात्मनो मम च सुखेन परिपूर्ण एव। न तु प्रकृत्युत्पन्नसुखेनेति भावः। आत्मनात्मरूपेण परमात्मनि मय्येव मत्सेवायामेवेत्यर्थः। संतुष्टः संतोषप्राप्तश्चैतादृश एव स्याद्भवेत्। तस्य जीवन्मुक्तस्य तु। कार्यमेतद्व्यतिरिक्तकरणीयम्। विद्यते नास्ति ॥ १७ ॥

परन्तु जो मनुष्य आत्मा में ही रमण करने वाला, आत्मा में ही तृप्त और आत्मा में ही सन्तुष्ट हो, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है ॥ १७ ॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥

तत्र कारणमाह। नैवेति। तस्य सिद्धदशायाः पराकाष्ठां प्राप्तमद्भक्तस्य इह लोके। कृतेन साधनविधानम्। कश्चन कोऽपि। अर्थः प्रयोजनम्। नैव भवति। अकृतेन साधनाचरणेन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कश्चन प्रत्यवायश्च न विद्यते । अस्य प्राकृतसुखे सहजतीव्रवैराग्यविलसितत्वाद्धेतोर्ब्रह्मरूपेण ब्रह्मणि मयि लग्नस्य महामुक्तस्येत्यर्थः । सर्वभूतेषु ब्रह्मादिस्थावरांतेषु प्राणिषु मध्ये । कश्चिन्मन्मदीयेतरः कोपि जनः । अर्थे मत्सेवामुक्तौ व्यपाश्रय्य आश्रयणीय आराधनीय इत्यर्थः । न च नास्त्येव । यद्वा । सर्वभूतेषु कश्चिदपि प्रयोजनसंबंधो नास्त्येव ॥ १८ ॥

क्योंकि इस लोक में उसका न तो (साधन) करने से ही कोई प्रयोजन है और न करने से ही । तथा उसका (आकाशादि) समस्त भूतों से भी किसी प्रकार के स्वार्थ का सम्बन्ध नहीं है ॥ १८ ॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥

तस्मादिति । तस्माद्यत एवंभूतपरिपक्वज्ञानिन एव कर्मानुपयोगो नान्यस्य ततो हेतोः । त्वम् । असक्तस्तत्फलासक्तिरहितः सन् । कार्यमवश्यं कर्त्तव्यतया विहितमदाज्ञापालनात्मकम् । कर्म । सततं सर्वदा । समाचर सम्यक् कुरु । हि यस्माद्धेतोः । असक्तो मत्प्रसन्नतेतरफलालुब्धः । पुरुषो मद्भक्तः । कर्म मदुक्तक्रियाम् । आचरन्सन् परं श्रेष्ठस्वमनोरथसिद्धिम् । आप्नोति ॥ १९ ॥

इसलिये तू आसक्तिरहित होकर लगातार कर्तव्य कर्म करता रह; क्योंकि अनासक्त पुरुष कर्म करता हुआ ही परम (आत्मा) को प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

अत्र सदाचारं प्रमाणयन्नाह कर्मणेति । हि यतः । जनकादयो ज्ञानिषु मुख्या एतदादिराजर्षयः । कर्मणा यथाधिकारं मदुक्तकर्मयोगेनैव । संसिद्धिं सम्यग्ज्ञानयोगसिद्धिम् । आस्थिता प्राप्ता इत्यर्थः । ततो हेतोः । त्वमपि । लोकस्य संग्रहं सम्यग्ग्राहणम् । संपश्यन्सन् । कर्त्तुमेतद्विधातुमेव । अर्हसि ॥ २९ ॥

जनकादि (आसक्तिरहित) कर्म के आचरण से ही परमसिद्धि को प्राप्त हुए । (इसके सिवा) लोकसंग्रह को देखकर भी तुझे कर्म ही करना चाहिए ॥२०॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥

लोकसंग्रहं विवेचयति । यदिति । श्रेष्ठो यथार्थशास्त्रार्थज्ञो जनः यद्यत्सच्छास्त्रानुकूलं वा कर्म । आचरति करोति । इतरः साधारणजनः । तत्तदेव कर्म । करोति । सः श्रेष्ठजनः । यत्सदसद्वा कर्म च शास्त्रं च धर्मः च वर्त्तनादि च । प्रमाणं कुरुते प्रमाणत्वेन मन्यते । लोकोऽन्यजनोपि । तत् । अनुवर्त्तते ॥ २१ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(क्योंकि) श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, दूसरा पुरुष भी वह-वह ही (वैसा ही) आचरण करता है। वह (श्रेष्ठ पुरुष) जितने प्रमाण में करता है, संसार उसी के पीछे चलता है ॥ २१ ॥

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥

अत्र च सर्वेश्वरोऽहमेव दृष्टांत इहात्याह त्रिभिः। नेति। हे पार्थ। मे सर्वकारणस्य परब्रह्मणो मम। त्रिषु लोकेषु। किंचन किमपि। कर्त्तव्यं करणार्हम्। नास्ति। अनवाप्तम-प्राप्तफलम्। अवाप्तव्यं केनापि कृतेन कर्मणा प्राप्तव्यं च। नास्ति तथापि। अहं परमेश्वरः। कर्मण्येव वर्त्ते सच्छास्त्रीयकर्म करोम्येवेत्यर्थः ॥ २२ ॥

पार्थ ! यद्यपि मेरे लिये तीनों लोकों में कुछ भी कर्तव्य नहीं है, और न (किसी) अप्राप्त वस्तु को प्राप्त ही करना है, (तथापि) मैं कर्म से ही बर्तता हूँ ॥ २२ ॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥

यदीति। हे पार्थ। अहं जनोपकाराय प्रादुर्भूतोऽहं भगवान्। यदि। अतंद्रितः सावधानः सन्। जातु कदाचित्। कर्मणि क्षत्रियधर्मे। न वर्त्तेयम्। तर्हि। सर्वशः सर्वे। मनुष्याः। मम। वर्त्म मदनुसृतपद्धतिम् अनुवर्त्तंतेऽनुप्रवर्त्तेरन् ॥ २३ ॥

यदि मैं सजग रहकर कदाचित् कर्म में प्रवृत्त न होऊँ तो अर्जुन ! सर्व मनुष्य सब प्रकार से मेरे मार्ग का अनुसरण करते हैं, (अतः वे भी कर्मों को छोड़ दें) ॥ २३ ॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥

ततः किमित्यत्राह। उत्सीदेयुरिति। अहं सर्वेषामग्रेसरोऽहम्। कर्म क्षत्रियधर्मम्। चेद्यदि। न कुर्यां नाचरेयम्। तर्हि। इमे शास्त्रीयकर्माधिकारिणो मदनुष्ठितवर्त्मानु-वर्त्तिनः। लोकाः सर्वे जनाः। उत्सीदेयुरकार्यकरणाच्छ्रेयोऽध्वनः पतेयुः। अतोऽहम्। संकरस्य वर्णसंकरत्वस्य। कर्त्ता स्यां भवेयम्। इमाः सकलाः। प्रजाः। उपहन्यां विनाशयिता भवेयं च ॥ २४ ॥

(फलतः) यदि मैं कर्म न करूँ तो (मेरे पीछे चलकर) ये सब लोक नष्ट हो जायँ और मैं फिर वर्णसंकर का कर्ता बनूँ तथा इन प्रजाओं का नाश करने वाला होऊँ ॥ २४ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥

एतदुपसंहरन्सिद्धांतमाह । सक्ता इति । हे भारत । कर्मणि । सक्ताः स्वकृतकर्मफलेष्वासक्ताः । अविद्वांसो मद्धार्दानभिज्ञाज्ञजनाः यथा । कुर्वंति । शास्त्रीयकर्माणीति शेषः । तथा । लोकानां संग्रहं धर्मसंग्रहणं कारयितुमिच्छुरित्यर्थः । विद्वान्मद्धार्दाभिज्ञो जीवन्मुक्तः असक्तः कर्तृत्वममत्वफलासक्तिरहितः सन् । कुर्यात् । सिद्धत्वेन साधनापेक्षारहितोऽपि तथैव कुर्यादित्यर्थः ॥ २५ ॥

(इसलिए) भारत ! कर्म में आसक्त हुए अज्ञानीलोग जैसे कर्म करते हैं, वैसे ही ज्ञानी को भी अनासक्त होकर (केवल) लोकसंग्रह (लोगों की भलाई) चाहते हुए कर्म करना चाहिये ॥ २५ ॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ २६ ॥

परिपक्वज्ञाननिष्ठोऽपि कृपालुतया वर्त्तेतेत्याह । नेति । युक्तो यथार्थमत्स्वरूपगुणविभूतिमाहात्म्यादिवेदितृत्वेन सावधानः । विद्वन्परिपक्वज्ञानी सर्वाणि मोक्षसाधनभूतानि कर्माणि तानि । समाचरन्सन् । अज्ञानां संगकर्मयोगानुष्ठानमजानताम् । अत एव । कर्मसु संगः कर्तृत्वममत्वफलानुसंधानात्मकोऽस्तेषामिति तथोक्तानां जनानाम् । बुद्धेर्भेदं ऋते ज्ञानान्न मुक्तिरित्यादिवाक्यात्मककर्मयोगानुपयोग एवंभूतविपरितत्वम् । न जनयेन्नोत्पादयेत् । किं तु । जोषयेत्स्वयमसंगकर्मयोगं विधाय तेषां तस्मिन्प्रीतिं जनयेदित्यर्थः ॥ २६ ॥

ज्ञानी पुरुष कर्मों में आसक्त अज्ञानियों की बुद्धि में भेद न उत्पन्न करे, (किन्तु स्वयं) योगयुक्त होकर कर्म करता हुआ उनकी समस्त कर्मों में प्रीति उत्पन्न करता रहे ॥ २६ ॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ २७ ॥

इदानीं कर्मयोगमाचरतामज्ञानिनां ज्ञानिनां भेदं दर्शयंति द्वाभ्याम् । प्रकृतेरिति । अहंकारेण देहाभिमानेन विमूढ आत्मा मनो यस्य तथाभूतो विवेकहीनो जनः । प्रकृतेः । गुणैः सत्त्वरजस्तमोभिः कर्तृभिः । क्रियमाणानि यानि । सर्वशः सर्वाणि । यद्यज्ज्ञादुत्पन्नानि तानि तज्जात्यर्हाणीत्यर्थः । कर्माणि । तानि । अहम् । कर्त्ताऽस्मि । इति । मन्यते ॥ २७ ॥

(यद्यपि) कर्म सब ओर से प्रकृति के गुणों द्वारा किये हुए होते हैं (तथापि) अहङ्कार से मूढात्मा ऐसा मानता है कि 'मैं करनेवाला हूँ' ॥ २७ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥

तत्त्वविदिति । हे महाबाहो । गुणाः सत्त्वादयश्च कर्माणि तदभिमानेन जातानि च तेषां विभागौ पृथक्त्वे तयोः । तत्त्ववित्तु । गुणेभ्य आत्मनः पृथक्त्वस्य कर्मभ्योऽप्यात्मनः पृथक्त्वस्य च यथार्थवेत्ता पुरुषस्त्वित्यर्थः । गुणाः । गुणेषु तत्तत्कार्यभूतकर्मसु । वर्त्तंते । इति । मत्वा ज्ञात्वा । न सज्जते । अहं तत्कर्त्तेति न मन्यते तत्फलेषु च न बध्नातीत्यर्थः ॥ २८ ॥

परन्तु अर्जुन ! गुणकर्म-विभाग के तत्त्व को जाननेवाला पुरुष गुण ही गुणों में बरत रहे हैं, ऐसा मानकर आसक्त नहीं होता ॥ २८ ॥

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ २९ ॥

न बुद्धिभेदं जनयेदित्युक्तमेवोपसंहरन्नाह । प्रकृतेरिति । प्रकृतेर्मायायाः । गुणैर्मलीनसत्त्वादिभिः संमूढा देहादावहं ममत्वाढ्यः संतः । ये । गुणकर्मसु गुणक्रियासु । सज्जंते स्वर्गपुत्रादिफललाभाय प्रसक्ता भवंति । अकृत्स्नविदः स्वल्पज्ञान् । अत एव । मंदानंतवत्फलासक्तान् । ताञ्जनान् । कृत्स्नवित्सर्वज्ञः । न विचालयेत्स्वयमनाचरणेन पातयेत् । किंतु तदुपकारार्थं फलानुसंधानरहितं तत्कुर्यादित्यर्थः ॥ २९ ॥

प्रकृति के गुणों से मोहित पुरुष गुण-कर्मों में आसक्त होते हैं, उन अल्पज्ञ मन्दबुद्धि मनुष्यों को पूर्ण जाननेवाला (ज्ञानी) पुरुष चलायमान न करे ॥२९॥

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥

अत एव त्वमप्येवं कुर्वित्याह । मयीति । आत्मनि । परमात्मनि मयीत्यध्यात्मं तच्च तच्चेतो ज्ञानं च तेन । सर्वं बद्धमुक्तजीववृंदमंतर्यामिभगवदधीनं स च कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थ इति मन्माहात्म्यं ज्ञात्वेत्यर्थः । सर्वाणि शास्त्रविहितानि । कर्माणि मयि संन्यस्य भगवत्प्रीतये तेन प्रेरितोऽहं करोमीति समर्प्य । निराशीस्तत्फलभोगेच्छारहितः । अत एव । निर्ममो मदर्थमिदं कर्मेत्येवं ममताशून्यः भूत्वा । विगतस्त्यक्तो ज्वरः शोको येन तथोक्तः सन् । त्वं युध्यस्व ॥ ३० ॥

अध्यात्मचित्त से सब कर्मों को मुझमें निक्षेप करके, आशा, ममता और सन्ताप से रहित होकर तू युद्ध कर ॥ ३० ॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥ ३१ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इदानीं स्वमताश्रयिणां फलं दर्शयति । य इति । ये । मानवाः । मे सर्वेशितुः सर्वकारणस्य मम इदं पूर्वश्लोकोक्तम् । मतं सिद्धांतम् । नित्यम् अनुतिष्ठंत्याश्रयंति । मन्मतानुसारेण कुर्वंतीत्यर्थः । ते मद्भक्ताः । कर्मभिः कल्याणविरोधिसंचितस्वकृत्यैः । मुच्यंते रहिता भवंति ये च श्रद्धावंतः सत्यं करणीयं चेदमेवेत्याद्यास्तावंतः । अनसूयंतो दुःखरूपे कर्मण्ययमाग्रहेण प्रवर्त्तयतीति दोषदृष्टिमकुर्वंतश्च जना भवंति । तेऽपि । कर्मभिर्मुच्यंते प्राचीनपापकर्मणः सकाशाद्विमुच्य परममोक्षसाधनभूतमद्भक्त्याधिकारिणो भवंतीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

जो मनुष्य श्रद्धा रखते और दोष न देखते हुए मेरे इस मत का नित्य अनुष्ठान करते हैं, वे भी कर्मों से छूट जाते हैं ॥ ३१ ॥

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥

इदानीं स्वमतानाश्रयिणां दोषं प्रकटयति । ये त्विति । ये जनाः । एतन्मयि सर्वाणि कर्माण्येतच्छास्त्रोक्तम् । मे मम । मतम् । नानुतिष्ठंति । तदनुसारेण न वर्त्तंत इत्यर्थः । ये च । अभ्यसूयंतो महागुणरूपेऽस्मिन्दोषमारोपयंतः । तु शब्देनास्मिन्सत्यत्वात्सारहिताश्च ये संति तांस्त्रिविधाज्ञनान् । सर्वेषां धर्माधर्मन्यायान्यायादीनां जीवेश्वरप्रकृतिपुरुषकालब्रह्मणं यज्ज्ञानं यथार्थवेदनं तस्मिन्मूढान् । अत एव । अचेतसो ग्राहग्रस्तवद्विवेकशून्यान् । अत एव नष्टाञ्जीवतोऽपि नरकपतितान् । विद्धि त्वं जानीहि । परिणामनरकाधिकारित्वादिति भावः ॥ ३२ ॥

परन्तु जो मेरे इस मत में दोष देखते हुए इसका अनुष्ठान नहीं करते, उनको तू सर्वज्ञान से रहित मूढ (घोर मूर्ख) नष्ट और चेतनारहित समझ ॥ ३२ ॥

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥

ननु तर्हि महासुखप्रदे शास्त्रानुसारेन्द्रियनिग्रहे जनाः कथं न प्रवर्त्तंत इत्यत्राह । सदृशमिति । ज्ञानं गुणदोषसारासारादिविवेकोऽस्यास्तीति तथोक्तो जनोऽपि स्वस्याः प्रकृतेः प्राक्तनवासनानुगतसत्त्वरजस्तमोयुक्तब्राह्मणक्षत्रियादिस्वभावस्य सदृशमनुरूपम् । तदनुसारेणेत्यर्थः । चेष्टते प्रवर्त्तते । यदि विवेकिजनोऽप्येवं तर्हीतिशेषः । भूतानि विवेकहीनाज्ञजनास्तु । प्रकृतिम् । यांत्यनुसरेयुरेव । अतो निग्रहः शास्त्रप्रकृतेंद्रियनिग्रहात्मकनियमः । किं करिष्यति प्रकृतेर्बलिष्ठत्वादकिंचित्कारोऽतो मत्प्रसन्नतारूपैतत्तद्धर्मे त्वया प्रवर्त्तितव्यमिति भावः ॥ ३३ ॥

ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृति (पूर्ववासना) के सदृश चेष्टा करता है । सभी प्राणी (अपनी) प्रकृति की ओर जा रहे हैं फिर निग्रह क्या करेगा ? ॥ ३३ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥

अथ शास्त्रोक्तं तन्निग्रहमाह द्वाभ्याम् । इन्द्रियस्येति । इन्द्रियस्य श्रोत्रादिज्ञानेन्द्रियवर्गस्य । अर्थे शब्दादौ । इन्द्रियस्य वागादिकर्मेन्द्रियवर्गस्य । अर्थे भाषणादौ च । रागः स्वप्रेष्ठविषयेषु प्रीतिश्च द्वेषोऽप्रियेषु तेषु रोषश्च तौ । व्यवस्थितौ स्वाभाविकतया स्थितौ । तथापि । मुमुक्षुजनः । तयो रागद्वेषयोः । वशम् । नागच्छेत् । सर्वथा तदधीनो न भवेदित्यर्थः । हि यस्मात् । अस्य मुमुक्षुजनस्य । तौ रागद्वेषौ । परिपंथिनौ प्रतिपक्षिणौ । मोक्षाध्वनि विघ्नकरौ भवत इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

इन्द्रिय-इन्द्रिय के विषय में (समस्त इन्द्रियों के भोगों में) जो राग-द्वेष स्थित हैं, उनके वश में नहीं होना चाहिये; क्योंकि वे दोनों इस (पुरुष) के मार्ग मे बाधक हैं ॥ ३४ ॥

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

तदेवं स्वाभाविकीमप्यनिष्टप्रकृतिं त्यक्त्वा स्वधर्मे प्रवर्त्तितव्यमित्युक्तमिदानीं स्वाधिकारानुगुणधर्म एव श्रेयानित्याह । श्रेयानिति । सुष्ठु सम्यगनुष्ठितादाचरितात् । परस्य परिपूर्णज्ञानयोगाधिकारिणो धर्माद्धर्मभूतज्ञानयोगात् । विगुण इन्द्रियोपरमात्मकगुणरहितः । स्वधर्मः स्वस्य कर्मयोगाधिकारित्वात्स्वस्य धर्मभूतः कर्मयोगः । श्रेयान्कर्मफलासंगितया प्रशस्यतरोऽस्ति । कुतः । स्वस्य धर्मेऽनासक्तितयाऽऽचरितकर्मयोगरूपे निधनमारब्धस्य तस्यापरिसमाप्तौ मरणमपि । श्रेयः श्रेष्ठम् । निर्विघ्नत्वेन जन्मांतरे तस्य परिपूर्णफलप्रदत्वादितिभावः । परधर्मस्तु । भयमासमंताद्वहत्यनधिकारित्वेन करोतीति तथाभूतो भवति ॥ ३५ ॥

अच्छी तरह से अनुष्ठान किये हुए पराये धर्म से अपना गुणरहित भी धर्म श्रेष्ठ है । अपने धर्म में मरना भी श्रेष्ठ है (परन्तु) पराया धर्म भयकारक है ॥ ३५ ॥

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ ३६ ॥

एवंमुक्तरीत्या प्रवृत्तेऽपि कचित्कचिद्दोषाभिभवत्वमालक्ष्यार्जुनः । पृच्छति । अथेति । हे वार्ष्णेय वृष्णिकुलोत्पन्न । अथ सर्वथेन्द्रियदमने संप्रवृतः । अनिच्छन्नर्थः रूपं पापं कर्तुं-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मनभिलषन्नपि । अयं ज्ञाननिष्ठस्तथा प्रसिद्धः । पुरुषः । बलाद्धठात् । नियोजितः प्रेरितः । इव । केन प्रयुक्तः प्रेरितः सन् । पापं पापरूपं वर्णाश्रमसदाचारविद्धविषयभोगाचरत्या-चरति । कामाद्यंतरारीञ्जेतुं प्रयतमानस्यापि कस्यापि कस्यचित्पुनः पापे प्रवृत्तिदर्शनादन्योऽपि कश्चित्तस्मिन्प्रवर्त्तको भवेदिति संभावनायां प्रश्नः ॥ ३६ ॥

अर्जुन ने कहा—श्रीकृष्ण ! फिर यह मनुष्य न चाहता हुआ भी किससे प्रेरित होकर पाप करता है, मानो जबरदस्ती लगा दिया गया हो ॥ ३६ ॥

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ ३७ ॥

काम इति । हे अर्जुन । एषामसावधानतया साधनदशावस्थितयोगिनां साधनदशायां योगाद्भ्रंशकः कामो मायिकविषयभोगेच्छापर्यायोऽनंगः । रजोगुणाद्रजोवासितमनसः समुद्भवतीति तथोक्तः । महन्निरवधितया प्रचुरमशनं विषयभोजनं यस्य सः । अतो नासौ विषयार्पणे न तृप्यतीति भावः । महापाप्मा दुष्पूरत्वादत्युग्रः । अतो नासौ साम्नाऽपि वशित्वमियादिति भावः । एवं एष एव प्रतिहतगतिः सन् । क्रोधः क्रोधरूपेण परिणामि च । तथाभूतोऽस्तीति शेषः । अत एव । एनं कामम् । इह मोक्षमार्गे । वैरिणं स्वातिप्रेष्ठसन्मार्गा-पातयितारं शत्रुम् । विद्धि त्वं जानीहि ॥ ३७ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—रजोगुण से उत्पन्न यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला और महापापी है, यहाँ तू इसी को वैरी जान ॥ ३७ ॥

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥

दृष्टांतैस्तत्स्पष्टयति । धूमेनेति । यथा । वह्निः । धूमेन स्वसंबंधोत्पन्नस्वकेतुभूतेन । आव्रियते आच्छाद्यते । यथा च । आदर्शो मुकुरः । मलेनागंतुकरजसा । आव्रियते । यथा च । गर्भः कुक्षिस्थप्राण्युल्बेन जरायुणा । आवृतः । तथा । इदं जीवात्मज्ञानम् । तेन कामेन । आवृतम् ॥ ३८ ॥

जैसे धुएँ से अग्नि और मैल से दर्पण ढक जाता है तथा जैसे झिल्ली से गर्भ ढका रहता है, वैसे उस (काम) से यह (आत्मज्ञान) ढका हुआ है ॥ ३८ ॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एतदेव । विशेषेण स्पष्टयति । आवृतमिति । हे कौंतेय । दुःखेन पूरयितुमशक्यस्तेन । अनलेन शोकसंतापहेतुत्वादग्नितुल्येन च । नित्यवैरिणा सर्वेषां दुःखप्रदत्वात्संततशत्रुत्वेनावस्थितेन । अज्ञस्य भोगसमये सुखदोऽपि फलकाले घोरतमसूर्म्यादिनरकप्रदत्वाज्ज्ञानिनस्तु तत्कालमपि मनः क्षोभाद्यनर्थप्रदत्वादितिभावः । कामरूपेण भोगेच्छारूपेण एतेन शत्रुणा । ज्ञानिनो ज्ञानयोगसाधनदशावस्थितस्य । ज्ञानमावृतं विवेक आच्छादितः ॥ ३९ ॥

अर्जुन ! ज्ञानस्वरूप आत्मा का ज्ञान इस बड़ी कठिनता से तृप्त होनेवाले अलं भाव से रहित कामरूप नित्य वैरी से ढका हुआ है ॥ ३९ ॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥

इदानीं तस्याधिष्ठानं कथयंस्तज्जयोपायमाह द्वाभ्याम् । इंद्रियाणीति इंद्रियाणि । मनः । बुद्धिश्च । एतत्त्रयम् । अस्य कामस्य । अधिष्ठानं दर्शनश्रवणादिभिः संकल्पेनाध्यवसायेन चाविर्भावस्थानम् । उच्यते । एष उक्तरीत्या प्रादुर्भूतः कामः । एतैरिंद्रियादिव्यापारदर्शनादिभिः ज्ञानं सदसद्विवेकम् । आवृत्य निरुध्य । देहिनम् । विमोहयति ॥ ४० ॥

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इस (काम) के अधिष्ठान कहलाते हैं । इन (तीनों) के द्वारा वह (काम) ज्ञान को ढककर जीवात्मा को मोहित करता है ॥ ४० ॥

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥

तस्मादिति । तस्माद्धेतोः हे भरतर्षभ । त्वम् । आदौ साधनारंभकाले । इंद्रियाणि । नियम्य मन्निबद्धमर्यादायां निरुध्य । ज्ञानं सच्छास्त्रसज्जनोपदेशजं परोक्षं च विज्ञानं तत्फलभूतं प्रत्यक्षं च तयोर्नाशनम् । अत एव । पाप्मानं पापकर्मण्यत्युग्रतया प्रवर्त्तकम् । एनं हि सर्वान्पश्चात्कृत्य मुख्यतया कामाख्यशत्रुमेव । प्रकर्षेण जहि मारय तस्मिञ्जिते सत्यत्यजस्य सुकरत्वादिति भावः ॥ ४१ ॥

इसलिये भरतश्रेष्ठ ! तू पहले इन्द्रियों को रोककर ज्ञान-विज्ञान के नाश करने वाले इस पापी (काम) को निश्चय ही मार ॥ ४१ ॥

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥

पुनस्तस्यैवातिबलवत्वं कथयंस्तज्जयोपायमाह द्वाभ्याम् । इंद्रियाणीति । इंद्रियाणि कामागमनद्वाराणि श्रोत्रादीनि । पराणि सूक्ष्मत्वेनोत्कृष्टानि । आहुः शास्त्रज्ञा वदंति । देहस्येन्द्रियाधीनत्वात्तस्मिन्क्षीणे तेषु कामो वर्त्तते इति भावः । इन्द्रियेभ्यः । परं सूक्ष्मत्वेन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कामस्य संकल्पमात्रेणाविर्भावस्थानादुत्कृष्टम् । मनः स्वांतमाहुः । तेषां तदधीनत्वात्तेषु कामादुपरतेष्वपि मनसि तस्य स्थितत्वादिति भावः । मनसस्तु मनसः सकाशात् । पराणुत्वेनोत्कृष्टा । बुद्धिरस्ति । मनसो बुद्ध्याधीनत्वात्तस्मिन्कामादुपरतेऽपि बुद्धौ रागात्मकस्य तस्य स्थितत्वादिति भावः । यस्तु बुद्धेः परतः सूक्ष्मत्वेन परः । अप्राप्तकरणेष्वप्यनाद्यज्ञानचेष्टितक्षेत्रज्ञेषु स्थातुं समर्थ इत्यर्थः । सः काम एतादृशोऽस्ति ॥ ४२ ॥

इन्द्रियों को प्रवल कहते हैं, इन्द्रियों से प्रबल मन है, मन से प्रबल बुद्धि है और बुद्धि से भी जो प्रबल है वह (काम) है ॥ ४२ ॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम
तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

एवमिति । एवमुक्तप्रकारेण बुद्धेः सकाशात् । परं सूक्ष्मत्वेन श्रेष्ठम् । बुद्ध्यादिरहिताद्यज्ञानवेष्टितक्षेत्रज्ञेषु वासनारूपेण स्थितत्वादिति भावः । बुध्वा कामशत्रुं ज्ञात्वा । आत्मना मन्माहात्म्यज्ञानसंस्काराढ्यबुद्ध्या । आत्मानं मनः । संस्तभ्य मदाराधनसहायभूतधर्ममर्यादायां निरुध्य । हे महाबाहो । दुरासदं दुर्धर्षं दुर्विज्ञेयगतिकं वा । कामरूपम् । शत्रुम् । जहि नाशय ॥ ४३ ॥

इति श्रीभगवद्गीताटीकायामन्वयार्थदीपिकायां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार इस दुर्विजय कामरूप शत्रु को बुद्धि से भो प्रबल जानकर, वीर अर्जुन ! आत्मा से आत्मा को रोककर तू इसे मार ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो
नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ चतुर्थोऽध्यायः

ब्रुवन्मुहुः स्वप्राकट्यं निर्बंधत्वं च कर्मणः ।
विविधांश्चाध्वरान् ज्ञानयोगं तुर्येऽब्रवीद्धरिः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥

उक्तस्य कर्मयोगस्य प्राचीनत्वं कालेन नष्टत्वं स्वेन पुनस्तदुज्जीवकत्वं तस्य रहस्यत्वं स्वस्यानादित्वं च त्रिभिर्ज्ञापयन् श्रीभगवानुवाच । इममिति । अव्ययं पुरातनम् । इमं पूर्वाध्यायोक्तम् । योगं मत्प्रसन्नतायै विहितकर्मयोगम् । अहम् । विवस्वते सूर्याय । प्रोक्तवान् । विवस्वान् । मनवे श्राद्धदेवाख्यस्वपुत्राय । प्राह । मनुः । इक्ष्वाकवे एतदाख्यस्वपुत्राय । अब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—इस अविनाशी योग को मैंने सूर्य से कहा था, सूर्य ने (अपने पुत्र) मनु से कहा और मनु ने (अपने पुत्र) इक्ष्वाकु से कहा ॥ १ ॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ २ ॥

एवमिति—एवमित्थम् । परंपराप्राप्तम् । इमं योगम् । राजर्षयो नेमिप्रभृतयः । विदुर्जानंति स्म । अद्यतनाः कथं न जानंतीत्यत्राह । स इति । हे परंतप । स योगः । इह लोके । महता दीर्घेण । कालेन । नष्ट उज्झिततां गतः । प्रायशो नॄणां प्रमादित्वादितिभावः ॥ २ ॥

इस प्रकार परम्परा से प्राप्त इस योग को राजर्षियों ने जाना । (परन्तु) अर्जुन ! वह योग बहुत काल से इस लोक में (प्रायः) नष्ट हो गया ॥ २ ॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

स इति—सः । एव । पुरातनः । अयम् । योगः । अद्य । मया । ते तुभ्यम् । प्रोक्तः । तत्र हेतुमाह भक्त इति । त्वम् । मे मम । भक्तः । सखा मित्रं च । असि । इति हेतोः । हि एव । उत्तमं श्रेष्ठम् । रहस्यं गोपनीयम् । एतद्योगात्मकज्ञानं प्रोक्तम् ॥ ३ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तू मेरा भक्त और सखा है, इसलिए वही यह पुराना योग आज मेरे द्वारा तेरे प्रति कहा गया है; क्योंकि यह अति उत्तम रहस्य है ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

भगवंतं मनुष्यदृष्ट्या पश्यन्नर्जुन आह । अपरमिति । हे सखे । भवतः । जन्म प्रादुर्भावः । अपरमर्वाचीनं मम जनिसमिपकालवर्त्ति भवतीत्यर्थः । विवस्वतः जन्म । परं प्राक्कालीनम् । अत एव । त्वं वर्त्तमानकालीनो भवान् आदौ पूर्वतरकाले एतदुक्तविध-ज्ञानम् । प्रोक्तवानादित्याय कथितवान् । इतीत्थम् । अहम् । कथम् । विजानीयां ज्ञातुं शक्नुयाम् ॥ ४ ॥

अर्जुन ने कहा—(श्रीकृष्ण !) आपका जन्म तो पीछे (अब) हुआ है और सूर्य का जन्म बहुत पहले का है, अतः मैं यह कैसे जानूँ कि इस योग को आपने आदि काल में कहा था ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥

एवं तेन पृष्टो भगवान्स्वरूपांतरेण प्रोक्तवानित्यभिप्रायेणोत्तरं कुर्वन्नाह । बहूनीति । हे अर्जुन । मे मम । जन्मानि ब्रह्मधाम्नचलतया स्थिते सत्येवात्र जनश्रेयोर्थमवतरणानि । तव च । जन्मानि । बहूनि । व्यतीतानि हि परंतप । सर्वाणि । तानि । अहम् । वेद वेद्मि त्वम् । न वेत्थ न वेत्सि । मम सदा स्वतंत्रत्वात्स्वतः सिद्धज्ञानत्वात्तव तु मत्परतंत्रत्वादिति भावः ॥ ५ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—अर्जुन ! मेरे और तेरे बहुत-से जन्म बीत चुके हैं, उन सब को मैं जानता हूँ, परंतप ! तू नहीं जानता है ॥ ५ ॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

न च जन्मनस्ते जन्मनि सत्यविनाशित्वं स्वतंत्रत्वं च कथमित्यत आह । अज इति । अव्ययोऽखंडित आत्मा स्वरूपं यस्य सोऽहं परमेश्वरः । अजः कर्मतंत्रजीववज्जन्मरहितोऽपि सन् । भूतानामाकाशादीनां ब्रह्मादिस्थावरांतानां प्राणिनां वा ईश्वरो नियामकोऽपि सन् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्ममायया स्वस्येच्छयैव । स्वां प्रकृतिमधिष्ठायानन्यसाधारणमत्स्वरूपस्वभावगुण-विभूत्यैश्वर्यपार्षदादिसहितेन स्वेन रूपेणेत्यर्थः । संभवामीह प्रत्यक्षो भवामि ॥ ६ ॥

मैं अजन्मा, अविनाशीस्वरूप और भूतप्राणियों का ईश्वर होते हुए ही अपने स्वभाव को साथ लेकर अपनी माया से (अपने सङ्कल्प से) प्रकट होता हूँ ॥ ६ ॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

कदेत्यपेक्षायामाह । यदेति । हे भारत । यदा यदा । धर्मस्य भागवताख्यवृषस्य । ग्लानिरनाचरणेन ह्रासः भवति । अधर्मस्य हिंसाव्यभिचारादिपापकर्मणः । अभ्युत्थानमाधिक्यं च भवति । तदा तदा तर्हि तर्ह्येव । अहम् । आत्मानं सृजामि स्वेच्छया सर्वजननेत्रविषयतां प्राप्नोमीत्यर्थः ॥ ७ ॥

जब-जब धर्म की ग्लानि और अधर्म का अभ्युत्थान होता है, तब-तब ही भारत ! मैं अपने को प्रकट कर लेता हूँ ॥ ७ ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

तदेवं स्वप्राकट्यसमयमुक्त्वेदानीं किं करणार्थमित्यत्राह । परीति । साधूनां भागवतधर्मनिष्ठसज्जनानाम् । परित्राणाय मत्प्रत्यक्षमूर्तिचरित्रादिदर्शनार्पणादिना रक्षणाय । दुष्कृतां तत्प्रतिकूलदुष्टजनानां तदंतःशत्रूणां वा । विनाशाय । धर्मस्य प्रेमभक्तिसहितस्य भागवताख्यस्य सम्यगवस्थापनाय मदाश्रितजनेषु प्रवर्त्तनाय च । युगे युगे प्रतियुगं सत्त्रेता-द्वापरकलिष्वित्यर्थः संभवामि सकलजनदृश्यो भवामि ॥ ८ ॥

साधुओं की रक्षा करने के लिये, दुष्टों का विनाश करने के लिये और (वैदिक) धर्म की स्थापना करने के लिये मैं युग-युग में प्रगट होता हूँ ॥ ८ ॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥

इदानीं स्वजन्मकर्मणां दिव्यत्वं जानतां फलमाह । जन्मेति । हे अर्जुन । मे मम । जन्म प्रादुर्भावः । कर्म चरित्रं च । दिव्यमप्राकृतं भवति । एवम् । तत्त्वतः सिद्धांतत्वेन । वेत्ति जानाति । सः । देहम् । त्यक्त्वा प्रारब्धावसाने विसृज्य । पुनः । जन्मसंसृतिम् । नैति नाप्नोति । किंतु । मामेति मामेव प्राप्नोति ॥ ९ ॥

मेरा वह जन्म और कर्म दिव्य है, इस प्रकार जो तत्त्व से जानता है, अर्जुन ! वह शरीर को त्यागकर फिर जन्म को नहीं प्राप्त होता, मुझको ही पाता है ॥ ९ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

तदेव दृढयति । वीतेति । मामुपाश्रिता अनन्यतया कृतैकमदाश्रयाः । अत एव रागो मायिकविषयेषु प्रीतिश्च भयं कालत्रासश्च क्रोधः प्रतिकूलजनेषु रोषश्चावीता निःशेषतया विनष्टास्ते येषां ते । ज्ञानं दिव्यमज्जन्मकर्मवेदनं च तपो मदुक्तधर्मश्च तयोर्द्वंद्वैकवद्भावस्तेन पूताः शुद्धाः । अत एव । मन्मयास्तैलधारावदखंडितत्वेन मय्येकचिताः । बहवो जनाः । मम यो भावः साधर्म्यं ब्रह्मभावोक्तमुक्तसमानत्वम् । आगताः प्राप्ताः संति ॥ १० ॥

राग, भय और क्रोध से रहित, केवल मुझ से ही ओत-प्रोत और मेरे ही आश्रित बहुत-से संत पुरुष ज्ञानरूप तप से पवित्र होकर मेरे भाव को प्राप्त हो चुके हैं ॥ १० ॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥

इदानीं भक्तस्थितसकामनिष्कामभावेन फलभेदं दर्शयति । य इति । हे पार्थ । ये जनाः । यथा येन प्रकारेण सकामनिष्कामत्वेन । मां सर्वकर्मफलप्रदातारं प्रत्यक्षं माम् । प्रपद्यंते समाश्रयंति । ताञ्जनान् । अहम् । तथैव तदिच्छानुसारेणैव । भजाम्यनुगृह्णामि । न तु वैपरित्येनेत्यर्थः । किं बहुनोक्तेन । सर्वशः सकामा निष्कामाः सर्वे । मनुष्याः । मम । वर्त्म सर्वेषु कृपया मदुक्तवेदमार्गम् । अनुवर्त्तंतेऽनुसरंति ॥ ११ ॥

जो मुझको जैसे भजते हैं उनको मैं वैसे ही भजता हूँ । अर्जुन ! मनुष्य सब प्रकार से मेरे ही मार्ग पर चलते हैं ॥ ११ ॥

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२ ॥

किं च मदुपासकोपासकानप्यहमनुगृह्णामीत्याशयेनाह । कांक्षंत इति । कर्मणाम् । सिद्धिं फलम् । कांक्षंत इच्छंतः संतः । इह । मानुषे । लोके । देवता इंद्रादिदेवान् । यजंते ये भजंते । तेषाम् । कर्मजा तदाराधनात्मककर्मोत्पन्ना । सिद्धिः फलम् । क्षिप्रमाशु भवति इन्द्रादिदेवांतर्यामिणो मम कृपया जायते । साक्षान्मदुपासनमंतरा मोक्षस्तु नैव भवतीति हि शब्दार्थः ॥ १२ ॥

(लौकिक सकाम मनुष्य) कर्मों की सिद्धि चाहते हुए यहाँ (इन्द्रादि) देवताओं को पूजते हैं; क्योंकि मनुष्य लोक में कर्मों से उत्पन्न हुई सिद्धि शीघ्र होती है ॥ १२ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

इदानीं स्वस्य सर्वकर्मफलदातृत्वे सत्यप्यकर्तृत्वमाह । चातुर्वर्ण्यमिति । चत्वारो वर्णा एव चातुर्वर्ण्यम् । तत्प्रभृति समग्रं जगदित्यर्थः । गुणाः सत्त्वादयश्च कर्माणि तदहंकारेण कृतानि च तेषां विभागशः । तदनुसारेणेत्यर्थः । मया । सृष्टम् । अतः । तस्य जगतः । कर्तारं सृष्टिस्थितिपोषणविधातारम् । अपि । माम् । अकर्तारम् । अव्ययमविनाशिस्वरूपं च । विद्धि त्वं जानीहि ॥ १३ ॥

गुण-कर्म के विभाग से चारों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) मेरे द्वारा रचे गये हैं । उनका कर्ता होने पर भी मुझ अविनाशी सर्वेश्वर को तू अकर्ता ही जान ॥ १३ ॥

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ १४ ॥

तदेवं जानतः फलमाह । नेति । कर्माणि तत्तत्कर्मानुसारेण कृतविषयसर्गादिक्रियाः । माम् । न लिम्पन्ति न बध्नंति । कर्मफले स्पृहा तत्तत्फलभोगेच्छाऽपि । मे मम । नास्ति । नित्यसिद्धस्वसुखेन परिपूर्णत्वादिति भावः । इत्येवमुत्पत्त्यादेः कर्तारमप्यकर्तारं फलासक्तिवर्जितं च । मां प्रत्यक्षम् । यः । अभिजानाति । सः । कर्मभिः प्राक्तनशुभाशुभैस्तैः । न बध्यते । तेभ्यो विमुच्यते इत्यर्थः ॥ १४ ॥

(क्योंकि) न तो मुझे कर्म लिपायमान करते हैं और न मुझे कर्मफल में स्पृहा है; इस प्रकार मुझको जो भलीभाँति जानता है, वह कर्मों से नहीं बँधता ॥ १४ ॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

एवमिति । एवमुक्तरीत्या निर्लेपं मत्स्वरूपम् । ज्ञात्वा । मुमुक्षुभिर्निर्दोषपरिपूर्णमत्स्वरूपस्य ज्ञातृत्वाज्जातमोक्षेच्छावद्भिः । पूर्वैः प्राचीनसूर्यमन्वादिभिरपि । कर्म मत्प्रसन्नताहेतुकं कर्म । कृतम् । तस्माद्धेतोः । त्वमपि । एवं मत्स्वरूपं ज्ञात्वा । पूर्वैः प्राचीनैः । कृतम् । अत एव । पूर्वतरं सृष्ट्यारंभसमये मयोक्तत्वात् । कर्म सांप्रतं चोक्तं फलानुसंधानवर्जितं मद्भक्तियुक्तं कर्मयोगमेव । कुरु मत्प्रसन्नतायै विधत्स्व ॥ १५ ॥

पहले (होनेवाले) मुमुक्षु पुरुषों के द्वारा भी इस प्रकार जानकर कर्म किया गया है । अत एव तू भी पूर्वजों द्वारा पूर्वकाल में किए हुए कर्म को ही कर ॥१५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १६ ॥

मदुक्तैतत्कर्मणि बहवो मोहिता अतो विचार्यैव कार्यमित्याह । किमिति । कर्म किम् । अकर्म च । किम् । इत्यत्र द्वयोः स्वरूपज्ञाने । कवयो विवेकिनोऽपि । मोहितास्तत्त्वतस्तन्न जानंतीत्यर्थः । अतः । त्वम् । यत् । ज्ञात्वा । अशुभाज्जनिमृतिदुःखात् । मोक्ष्यसे । तत् कर्म । ते तुभ्यम् । अहम् । प्रवक्ष्यामि ॥ १६ ॥

कर्म क्या है और अकर्म क्या है, इस विषय में विद्वान् पुरुष भी मोहित हैं, इससे मैं तुझे वह कर्म बतलाऊँगा, जिसे जानकर तू अशुभ (संसार बन्धन) से छूट आयगा ॥ १६ ॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥

तत्रादौ कवीनां मोहप्राप्तौ कारणमाह । कर्मण इति । कर्मणो मोक्षसाधनभूतक्रियायास्तत्त्वम् । बोद्धव्यं ज्ञातव्यमस्ति । विकर्मणश्च संपादितद्रव्येण विहितनित्यनैमित्तिककर्मणः स्वरूपमपि । बोद्धव्यमस्ति । अकर्मणो मत्प्रसन्नताविरोधिसर्वकर्मदाहकस्य स्वरूपं च । बोद्धव्यमस्ति । कर्मण एवं त्रिविधस्यापि तस्य । गतिर्गहना हि तत्त्वं दुर्बोध्यमेवास्ति ॥ १७ ॥

कर्म के विषय में भी जानने योग्य है, अकर्म (ज्ञान) के विषय में भी जानने योग्य है और विकर्म के विषय में भी जानने योग्य है। कर्म की गति गहन है ॥ १७ ॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

अथ कर्माकर्मणोर्विषये यद्बोद्धव्यमस्ति तदाह । कर्मणीति । यः । कर्मणि मदाराधनात्मककर्मयोगे । अकर्म यथार्थात्मपरमात्मस्वरूपबोधनात्मकज्ञानम् । पश्येत् । यश्च । अकर्मणि ज्ञानयोगे । कर्म सप्रेम मन्नवधाभक्तिविधानरूपकर्मयोगम् । पश्येत् । स मुमुक्षुजनः । बुद्धिमान् श्रुतिस्मृतिसिद्धांतज्ञः प्रोक्तः । स च । मनुष्येषु मध्ये । युक्तो मत्कृपैकसाध्यपरममोक्षार्हो भवति । कृत्स्नकर्म कृत्स्नम् एव समग्रसत्कर्म कर्ता च भवति । नित्यनैमित्तिककाम्यकर्माख्यविकर्मणि च नानाविधफलेच्छां विहायैकभगवत्प्रसन्नतारूपेच्छा कर्त्तव्येति बोद्धव्यमस्त्येतद्व्यवसायात्मिका बुद्धिरेतच्छ्लोके गदितत्वादत्र नोक्तम् ॥ १८ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो पुरुष कर्म में अकर्म (आत्मज्ञान), और अकर्म (ज्ञान) में कर्म देखे, वह मनुष्यों में बुद्धिमान् है और वही युक्त है तथा सब कर्मों को करने वाला है ॥ १८ ॥

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ १९ ॥

ज्ञानमिश्रितकर्मयोगिनः श्रैष्ठ्यं वदति । यस्येति । यस्य कर्मयोगिनः । सर्वे समारंभाः कायवाङ्मनोविहिताखिलसत्क्रियाः । कामसंकल्पवर्जितास्तत्तत्फलभोगेच्छारहिताः स्युः । ज्ञानाग्निना यथार्थमन्माहात्म्यवयुनानलेन दग्धानि कर्माणि ज्ञाताज्ञातजाते तदकर्माणि यस्य तम् । तं मत्प्रसन्नतायै देहादिव्यापारवंतं मद्भक्तम् । बुधा विवेकिनः । पंडितं सच्छास्त्रसिद्धांतज्ञम् । आहुर्वदंति ॥ १९ ॥

जिसके समस्त कर्म कामना और संकल्प से रहित हैं, उस ज्ञानाग्नि के द्वारा दग्ध हुए कर्मों वाले पुरुष को बुद्धिमान् लोग पण्डित कहते हैं ॥ १९ ॥

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥ २० ॥

एतदेव व्यनक्ति । त्यक्त्वेति । कर्मफलासंगस्वकृतकर्मफलासक्तिम् । त्यक्त्वा । नित्ये न मदीया विनाशिसुखेन तृप्तः परिपूर्णः । अत एव । निरस्तः प्राकृतसुखाशयो नष्टो मदितराश्रयो यस्य सः योऽस्ति । सः । कर्मणि अभिप्रवृत्तोऽपि । किंचित्किमपि । नैव । करोति । स च कर्ममिषेण ज्ञानाभ्यासमेव करोतीत्यर्थः ॥ २० ॥

जो कर्म-फल की आसक्ति को त्यागकर नित्य (आत्मा में) तृप्त और निराश्रय (प्रकृति के आश्रय से रहित) है वह पुरुष कर्म में भलीभाँति प्रवृत्त हुआ भी कुछ भी नहीं करता है ॥ २० ॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ २१ ॥

तस्य निर्दोषित्वं चाह । निराशीरिति । निर्गता आशिषः फलप्राप्तीच्छा यस्मात् सः । यतं मदाज्ञाधीनीभूतं चित्तं चेत आत्मा स्वस्वभावश्च यस्य सः । त्यक्ताः सर्वे परिग्रहाः संसृतिप्रदसांसारिकपदार्थसंग्रहा येन स च । तथाविधो योऽस्ति स इत्यर्थः । केवलं शारीरं शरीरनिर्वाहोपयोगिमात्रम् । न तु परत्र भोगेच्छयेत्यर्थः । कर्म । कुर्वन्सन् किल्बिषं दोषम् । न । आप्नोति । मदाज्ञाविरोधिकर्मणः सकाशाद्भीरुत्वादिति भावः ॥ २१ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आशा (फलासक्ति) रहित, जीते हुए चित्त और आत्मा (मन) वाला, सब परिग्रह का त्यागी पुरुष केवल शरीर सम्बन्धी कर्म करता हुआ भी पाप (संसार) को प्राप्त नहीं होता ॥ २१ ॥

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥ २२ ॥

कर्मणि तस्यावधानं चाह । यदृच्छेति । यदृच्छालाभेन दैवेच्छालब्धान्नफलादिना संतुष्टः द्वंद्वानि सुखदुःखादीनीतोऽतिक्रम्य वर्त्तमानः । तत्सहनशील इत्यर्थः । विगतो मत्सरोऽन्यौत्कृष्ट्यासहनरूपो यस्य सः । अन्येषामुत्कृष्टं वीक्ष्य प्रमुदितमना इत्यर्थः । सिद्धौ स्वेनारब्धक्रियाः सिद्धावसिद्धौ च सत्याम् । समो निर्विकारश्च । योऽस्ति स इत्यर्थः । कृत्वा वर्णाश्रमोचितशास्त्रीयकर्मविधायापि । न निबध्यते तत्फलानि तं न निबध्नंतीत्यर्थः ॥ २२ ॥

यदृच्छा-लाभ से सन्तुष्ट, द्वन्द्वातीत, मत्सररहित और सिद्धि-असिद्धि में सम भाववाला पुरुष कर्म करके भी बँधता नहीं ॥ २२ ॥

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

गतसंगस्येति । किं च ज्ञाने मन्माहात्म्यवेदनेऽवस्थितं चेतो यस्य तस्य यथार्थमन्माहात्म्यज्ञस्येत्यर्थः । अत एव । गतो विनष्टः संगो मदितरपदार्थासक्तिर्यस्य तस्य । अत एव । मुक्तस्य लोभकामाद्यधर्मसर्गानभिभूतस्य । यज्ञाय यज्ञमूर्त्तेर्मम प्रसन्नतायै । कर्म क्रियाम् । आचरतः कुर्वतो मद्भक्तस्य । समग्रं मोक्षविरोधिप्राचीनकर्मसहितं सर्वं कर्म प्रविलीयते मूलतो विनश्यति ॥ २३ ॥

आसक्तिरहित, मुक्त (समस्त परिग्रहों से छूटे हुए) आत्मज्ञान में स्थित चित्त वाले और यज्ञ के लिये कर्माचरण करने वाले पुरुष के कर्म पूर्णतया विलीन हो जाते हैं ॥ २३ ॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

तथाविधेन कर्त्रा यन्निश्चित्य कर्म कर्त्तव्यं तदाह । ब्रह्मेति अर्प्यतेऽनेनेत्यर्पणं स्रुवादि साधनम् । ब्रह्म सर्वांतर्यामि ब्रह्मणः सत्तावदतस्तदीयमेव । हविरन्नघृतादि हुतद्रव्यं ब्रह्म तथात्वेन तदीयमेव । ब्रह्मणः परब्रह्मणः शरीरभूतो योऽग्निस्तस्मिन् ब्रह्मणाऽक्षरब्रह्मसाधर्म्यंप्राप्तेन देहत्रयाद्विलक्षणेन मया । हुतं भगवद्ध्यानपूर्वकं मंत्रैरर्पितं साक्षाद्भगवत्तद्भक्तेभ्यो भोजितं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वा। इति ब्रह्मणे परब्रह्मप्रसन्नतायै कर्म या काऽपि क्रिया कर्त्तव्या न तु फलांतरार्थे तथाभूतो यः समाधिर्निश्चयात्मकचित्तैकाग्र्यं तेन। ब्रह्मैव गंतव्यं परमात्मैव प्राप्योऽस्ति। न त्वितरफलमित्यर्थः॥ २४॥

अर्पण (स्रुवादि) ब्रह्म है, हवि ब्रह्म है और ब्रह्मरूप अग्नि में ब्रह्मरूप कर्ता के द्वारा हवन किया गया है। इस प्रकार (निश्चय करने वाले) 'ब्रह्मकर्मसमाधि' पुरुष के द्वारा प्राप्त होने योग्य (वस्तु भी) ब्रह्म ही है॥ २४॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥ २५॥

अथाधिकारिभेदान्वदन्नाहाष्टभिः। दैवमिति। अपरे सकामाः। योगिनः कर्मयोगिनः देवानामिंद्रादीनामाराधनरूपोऽयं दैवस्तमेव। यज्ञम्। पर्युपासते श्रद्धयाऽनुतिष्ठंति। एवकारः परमेश्वरं विहाय तेष्वासक्तिं ज्ञापयति। अपरे ज्ञानयोगिनः। यज्ञं स्वविहितयज्ञस्य फलमित्यर्थः। यज्ञेन परब्रह्मणो मम माहात्म्यज्ञानरूपेण यागेन। ब्रह्माग्नावग्रे शरीरीभूते परब्रह्मणि मय्येव उपजुह्वति समर्पयंति। मत्प्रसन्नतायै यज्ञान्कुर्वंतीत्यर्थः॥ २५॥

अन्य कर्मयोगी देवपूजनरूप यज्ञ का ही भलीभाँति अनुष्ठान करते हैं, दूसरे ब्रह्मरूप अग्नि में यज्ञ से ही यज्ञ का हवन करते हैं॥ २५॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥ २६॥

श्रोत्रेति। अन्ये योगिनः। संयमानि यमा एवाग्नयस्तेषु। श्रोत्रादीनि। इंद्रियाणि जुह्वति। तेषु तानि रक्षन्तीत्यर्थः। अन्ये केचिद्योगिनः। इंद्रियाणि मदेकांतिकभक्तानां श्रोत्रमुखादीन्येवाग्नयस्तेषु। शब्दादीन्मुहुर्मद्गुणकीर्त्तनं मन्निवेदितभक्ष्यभोज्यादीन्। विषयान्। जुह्वति। तान् मद्गुणान् श्रावयंति मन्निवेदितान्नादिभ्यो भोजयंतीत्यर्थः॥२६॥

अन्य कर्मयोगी श्रोत्रादि इन्द्रियोंको संयमरूप अग्नियोंमें होमते हैं; दूसरे शब्दादि विषयोंका इन्द्रियरूपी अग्नियोंमें हवन करते हैं॥ २६॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥ २७॥

सर्वाणीति। अपरे मद्ध्याननिष्ठयोगिनः। ज्ञानेन मन्माहात्म्यवेदनेन दीपिते प्रकाशिते आत्मनो मनसः संयमो मन्मूर्त्तौ वशीकरणं स एव योगाग्निस्तस्मिन्। सर्वाणि। इंद्रियकर्माणि शब्दादिश्रवणोच्चारणादीनि प्राणानां कर्माणि बहिरूर्ध्वोऽधो नयनादीनि च। जुह्वति। सर्वाणि नियम्य मन्मूर्त्तिध्याने ते प्रवृत्ता इत्यर्थः॥ २७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्य कर्मयोगी ज्ञानसे प्रज्वलित आत्मसंयमरूपी योगाग्निमें समस्त इन्द्रियोंके कर्मोंका और प्राणोंके कर्मोंका हवन करते हैं ॥ २७ ॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८ ॥

द्रव्येति । यतयः प्रयत्नविधानशीलाः सम्यक्शितं तीक्ष्णत्वादनिवार्यं व्रतं मत्प्राप्तिरूपसंकल्पो येषां ते । अपरे केचिद्योगिनः । द्रव्यं मम प्रीणनार्थसत्पात्रे न्यायार्जितान्नधनाद्यर्पणमेव यज्ञो येषां ते । तथा केचित् । तपो मत्प्रीत्यै कृच्छ्रचांद्रायणाद्याचरणमेव यज्ञो येषां ते तथा केचित् । योगो मन्मूर्त्तौ मनोयोजनायाष्टांगयोगाचरणमेव यज्ञो येषां ते । केचिच्च । स्वाध्यायो मन्माहात्म्यादिज्ञानाय सच्छास्त्रपठनपाठनात्मकं ज्ञानं तदर्थवेदनात्मकं च ते यज्ञो येषां तथाभूताः संति ॥ २८ ॥

दूसरे यत्नशील और शंसितव्रत (दृढ़ संकल्पवाले) कर्मयोगी द्रव्य-यज्ञ करनेवाले, वैसे ही कई (व्रतादिरूप) तप-यज्ञ करनेवाले, कई योग (तीर्थसेवनरूप) यज्ञ करनेवाले हैं और दूसरे कई स्वाध्याययज्ञ (वेदाध्ययन) और ज्ञानयज्ञका अनुष्ठान करनेवाले हैं ॥ २८ ॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ २९ ॥

अपान इति । तथा प्राणानामायाम आसमंतात्पूरककुंभकरेचकैर्यमनं नियमनमेव परमयनमुत्कृष्टमत्प्राप्तिसाधनं येषां ते । अपरेऽष्टांगयोगाभ्यासिनः केचित् । प्राणापानगती । रुध्वा प्राणमूर्ध्ववायुम् अपानेऽधोवायौ । जुह्वति पूरकक्रिययेति शेषः । केचिच्च ते । अपानमधोवायुम् । प्राणे ऊर्ध्ववायौ । रेचकक्रियया जुह्वति प्राणापानौ वशे नयंतीत्यर्थः ॥ २९ ॥

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥

अपर इति । नियतो नियमित आहारो येषां ते । अपरे केचित् । प्राणेषु कुंभकेनैकत्र स्थापितेषु तेषु । प्राणानिंद्रियाणि । जुह्वति प्रतिलोम्य तैः सह स्थिरीकुर्वंति । तदुक्तं योगशास्त्रे । यथा यथा सदाभ्यासान्मनसः स्थिरता भवेत् । वायुवाक्कायदृष्टीनां स्थिरता च तथा तथेति । यज्ञैः क्षपितं नाशितं कल्मषं यैस्ते । एते सर्वेऽपि । यज्ञविदो यज्ञज्ञातारः संति ॥ ३० ॥

अन्य कई नियताहारी प्राणायाम-परायण पुरुष प्राणका अपानमें, दूसरे अपानका प्राणमें और अन्य कई प्राण-अपानकी गतिको रोककर प्राणोंका प्राणोंमें हवन करते हैं । ये सभी यज्ञको जाननेवाले हैं और यज्ञोंद्वारा पापोंका नाश कर डालनेवाले हैं ॥ २९-३० ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥

अथैतान् स्तुवन्सन्नाह । यज्ञेति । हे कुरुसत्तम । यज्ञशिष्टामृतं यज्ञमूर्त्तेर्मम भुङ्क्तावशिष्टान्नं भुंजत इति तथोक्ता मद्भक्ताः । सनातनम् । ब्रह्म परब्रह्मसंज्ञं माम् । यांति । अयज्ञस्य यज्ञाचरणहीनस्य जनस्य । अयं मनुष्य संबंधी । लोकः । नास्ति सुखप्रदो न भवति । तर्हीति शेषः । अन्यः स्वर्गादिलोकः । कुतो भवेत् ॥ ३१ ॥

यज्ञसे बचे हुए अमृतको खानेवाले (कर्मयोगी) सनातन ब्रह्मको प्राप्त होते हैं। कुरुश्रेष्ठ अर्जुन ! यज्ञरहित पुरुषका यही लोक नहीं है, तब दूसरे (मोक्ष) की तो बात ही कहाँ ? ॥ ३१ ॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥

एवमिति । एवमित्थम् । बहुविधा दैवयज्ञादिभेदेनानेकप्रकाराः । यज्ञाः । ब्रह्मणो विश्वस्रष्टुः । मुखे मुखोच्चारितवेदे । वितता विस्तृताः । सविस्तरमुक्ता इत्यर्थः । सर्वान् । तान्यज्ञान् । कर्मजान्वेदोक्तक्रिययोत्पन्नान् । विद्धि त्वं जानीहि । एवम् । ज्ञात्वा । विमोक्ष्यसे कर्मबंधात्त्वं विमुक्तो भविष्यसि ॥ ३२ ॥

इस तरह बहुत प्रकारके यज्ञ (कर्मयोग) ब्रह्माके मुखसे विस्तृत हैं, उन सबको कर्मजन्य जान, ऐसे जानकर तू मुक्त हो जायगा ॥ ३२ ॥

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

अथैतेषां ज्ञानयज्ञस्य श्रेष्ठतां वदति । श्रेयानिति । हे परंतप द्रव्यमयादनात्मव्यापारजन्यात् । यज्ञाद्देवादियज्ञात् । ज्ञानं सच्छास्त्रसज्जनेभ्यो जीवेश्वरब्रह्मपरब्रह्मणां देहादिमायिकपदार्थस्य च लक्षणैर्यथाबोधनं तदेव यज्ञः श्रेयान् श्रेष्ठोऽस्ति तत्र हेतुमाह । हे पार्थ । सर्वं शुभाशुभं समग्रम् । कर्म । अखिलं कर्मजन्यं फलं च । ज्ञाने परिसमाप्यते । परमेश्वरे यथा चित्तनिरोधः स्यात्तथा सर्वमनुष्ठेयमिति भावः ॥ ३३ ॥

परन्तप अर्जुन ! द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। पार्थ ! सब कर्म पूर्णतया ज्ञानमें समाप्त होते हैं ॥ ३३ ॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तदिति। अत एव। तदुक्तप्रकारम्। ज्ञानम्। विद्धि त्वं जानीहि कथमित्यपेक्षायामाह। प्रणिपातेन ज्ञानोपदेष्टॄणां नमस्कारविधानेन। ततः। सेवया तदनुकूलशुश्रूषया च ततः सेवया संतुष्टेभ्यः तेभ्यः। परिप्रश्नेन च। तत्त्वदर्शिनः प्रत्यक्षानुभवसंपन्नाः ज्ञानिनः शास्त्रज्ञमदुपासकजनाः। ते तुभ्यम्। उपदेक्ष्यंत्युपदेशेनं संपादयिष्यंति ॥ ३४ ॥

उस ज्ञानको तू (तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंसे) सीख। वे तत्त्वदर्शी ज्ञानी दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, (जिज्ञासुभावसे) प्रश्न करनेसे और सेवा करनेसे तुझे उसका उपदेश करेंगे ॥ ३४ ॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ३५ ॥

अथ ज्ञानमाहात्म्यं वदति सार्द्धैस्त्रिभिः। यदिति। हे पांडव। त्वम्। यज्ज्ञानम्। ज्ञात्वा प्राप्य। पुनः। एवं देहदैहिकयोरहंममत्वरूपम्। न यास्यसि न प्राप्स्यसि। येन ज्ञानेन। भूतानि प्रकृतिपुरुषादीनि सर्वाणि। आत्मनि सर्वांतर्याम्यक्षरब्रह्मणि तदाधार इति यावत्। द्रक्ष्यसि। अथो आत्मानम्। अशेषेण समग्रत्वेन। मयि। द्रक्ष्यसि। तानि सर्वाधारस्य ममाधारे त्वं समीक्षिष्यस इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

जिस (ज्ञान) को जानकर अर्जुन ! तू फिर इस प्रकारके मोहको प्राप्त नहीं होगा। जिससे समस्त भूतप्राणियोंको (पहले) अपने आत्मामें और फिर मुझमें देखेगा ॥ ३५ ॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ ३६ ॥

अपीति किंच। सर्वेभ्यः पापेभ्यः पापकोटिजनेभ्यः। त्वम्। पापकृत्तमोऽतिशयेन पापकारी। असि चेत् तथापि। सर्वं प्राचीनमाधुनिकं च समग्रम्। वृजिनं पापाब्धिम्। ज्ञानं मदुक्तज्ञानमेव प्लवो नौका तेनैव। सम्यक् प्रयासरहितं यथा तथा तरिष्यसि ॥ ३६ ॥

यदि तू सब पापियोंसे भी बढ़कर पाप करनेवाला है, तो भी इस ज्ञानकी नौकाके द्वारा समस्त पापोंको तर जायगा ॥ ३६ ॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७ ॥

समुद्रतरणवत्पापतरणोक्त्या तद्विनाशासंभवाद् दृष्टांतेन तद्विनाशमाह। यथेति। हे अर्जुन। समिद्धः प्रदीप्तः। अग्निः। यथा। एधांसि काष्ठानि। भस्मसात्कुरुते भस्मीभावं नयति तथा। ज्ञानाग्निरात्मपरमात्मादिस्वरूपं यथार्थवेदनरूपोऽनलः। सर्वाणि प्रारब्धव्यतिरिक्तान्यखिलानि यानि कर्माणि तानि। भस्मसात् कुरुते ॥ ३७ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि इन्धनको भस्ममय कर देती है, वैसे ही ज्ञानाग्नि सारे कर्मोंको भस्ममय कर देती है ॥ ३७ ॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥ ३८ ॥

तत्र हेतुमाह । न हीति । इह तपोयोगादिषु मध्ये । ज्ञानेन । सदृशं तुल्यम् । पवित्रं जीवात्मबुद्धिकरम् । न हि विद्यते किमप्यन्यसाधनं नास्त्येव । अथैतज्ज्ञानप्राप्तिकालं दर्शयति । तदिति तज्ज्ञानम् । योगेन मदाराधनात्मकासंगकर्मयोगेन संसिद्धः सम्यग्योग्यतां प्राप्तो जनः । कालेन शनैः । आत्मनि जीवात्मनि । स्वयं विंदति । स्वेन प्रसन्नीकृतान्मत्सकाशादनायासेन प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ३८ ॥

निस्सन्देह इस जगत्में ज्ञानके समान पवित्र अन्य कुछ भी नहीं है। योगके द्वारा संसिद्ध होकर पुरुष समयपर उसे स्वयं आत्मामें ही पा लेता है ॥३८॥

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ३९ ॥

श्रद्धावांस्त्वचिरेण ज्ञानं प्राप्नोतीत्याह । श्रद्धावानिति । श्रद्धासच्छास्त्रसद्गुरूपदिष्टार्थास्तिक्यबुद्धिपूर्वकत्वरा विद्यतेऽस्य तथोक्तः । तज्ज्ञानमेव परमाप्यतया प्रधानं यस्य सः । अत एव । संयतानि निगृहीतानींद्रियाणि यस्य तथाभूतो मद्भक्तः । ज्ञानं लभते प्राप्नोति नान्य इत्यर्थः । अतः श्रद्धादिसंपत्या ज्ञानलाभात्प्राङ्मदाराधनरूपकर्मयोग एवानुष्ठेय इति भावः । ज्ञानं प्राप्य तु न किंचित्कृत्यमस्तीत्याह । ज्ञानमिति । ज्ञानं लब्ध्वा प्राप्य तु । अचिरेण स्वल्पकालेन । परां श्रेष्ठाम् । शांतिं ब्रह्मरूपेण निरवधिकातिशयमन्मूर्त्तिसुखप्राप्तिरूपां निर्वृत्तिम् । अधिगच्छति मद्भक्तः प्राप्नोति ॥ ३९ ॥

श्रद्धावान्, तत्पर एवं जितेन्द्रिय पुरुष ज्ञानको पाता है; और ज्ञानको पाकर (फिर) तुरंत ही परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है ॥ ३९ ॥

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ४० ॥

अथानेवंभूतस्य न सुखमित्याह । अज्ञ इति । अज्ञः सच्छास्त्रोपदिष्टार्थानभिज्ञः । अश्रद्दधान आस्तिक्यबुद्धिरहितश्च । संशयो मयारब्धमिदं सिद्ध्येद्वा नेति संदेहयुक्त आत्मा मनो यस्य तथाभूतश्च मद्विमुखजनः । विनश्यति स्वार्थाद्भ्रश्यति । उक्तेषु त्रिषु मध्ये तृतीयस्य विशेषमाह । नेति । संशयात्मनः सच्छास्त्रजन्यन्नावाक्येऽस्य विश्वस्तस्य तु । अयं लोको मनुष्यलोकः नास्ति । परः स्वर्गादिरपि नास्ति । तत्साधनाभावात्तत्प्राप्तिरस्य न जायते इत्यर्थः । अतएव न सुखं यत्र कुत्रापि सुखं स न लभते इत्यर्थः ॥ ४० ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अज्ञानी और अश्रद्धालु संशयात्मा मनुष्य नष्ट हो जाता है, (उस) संशयात्माके लिये न यह लोक है, न सुख है और न परलोक ही है ॥ ४० ॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥ ४१ ॥

अथ द्विविधयोगनिष्ठस्य कर्मबंधो न भवतीत्याह । योगेति । हे धनंजय । योगेन मदाराधनात्मकासंगकर्मयोगेन संन्यस्तानि त्यक्तानि कर्माणि मन्नवधाभक्तीतरक्रिया येन तम् । ज्ञानेन संछिन्नाः संशयाः कुतर्का यस्य तं च । आत्मरूपेण परमात्मनि मयि निष्ठां प्राप्तं मदेकांतभक्तम् । कर्माणि । न निबध्नंति मत्प्रसन्नतेतरफलैर्न योजयंति ॥ ४१ ॥

योगके द्वारा त्यागे हुए (ज्ञानाकार बनाये हुए) कर्मोंवाले, ज्ञानके द्वारा कटे हुए संशयोंवाले और आत्मवान् पुरुषको हे धनञ्जय ! कर्म नहीं बाँधते ॥४१॥

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

तस्मादिति । तस्माद्यस्मादेवं तस्माद्धेतोः । हे भारत । अज्ञानेन संभूतं जातम् । हृत्स्थं मनसि प्रविष्टम् । एनं बंधुहननोद्योगजातशोकादिनिमित्तम् । आत्मनः स्वस्य संशयं हननपापसंपर्कात्मकसंदेहम् । ज्ञानासिना मदुक्तज्ञानखड्गेन । छित्वा योगं मत्प्रसन्नतायै मदाज्ञापालनरूपकर्मयोगम् । आतिष्ठाश्रय । उत्तिष्ठ युद्धं कर्तुं सावधानो भव ॥४२॥

इति श्रीभगवद्गीताटीकायामन्वयार्थदीपिकायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इसलिये अज्ञानसे उत्पन्न हृदयमें स्थित इस संशयको आत्मज्ञानरूप खड्गके द्वारा काटकर हे भारत ! (तू) कर्मयोगमें लग जा और उठ खड़ा हो ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ पञ्चमोऽध्यायः

अत्रोक्तः पंचमेऽध्याये श्रीकृष्णेनार्जुनं प्रति ।
कर्मसंन्यासयोगोऽद्धा स्वस्मै समर्पणात्मकः ॥ १ ॥

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

पूर्वाध्यायोक्तयोगद्वयं श्रुत्वाऽर्जुनः पृच्छति । संन्यासमिति हे कृष्ण । कर्मणाम् । संन्यासं त्यागम् । शंससि । आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं नेति तृतीयाध्यायोक्तसर्वं-कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यत इति तुर्याध्यायोक्तादिवाक्यैस्त्वं कथयसि । पुनः । योगं छित्वैनं संशयं योगमातिष्ठेत्यादिवाक्यैः कर्मयोगं शंससि । कर्मसंन्यासकर्मयोगावेकस्यैकदैवं न संभवत इति भावः । अतो हेतोः । एतयोर्द्वयोर्मध्ये यत् । श्रेयः श्रेयस्तरं भवेत् । तत् । एकं ज्ञानयोगं कर्मयोगं वा सुष्ठुनिश्चितं यथा तथा मे मह्यम् । ब्रूहि ॥ १ ॥

अर्जुन ने कहा—श्रीकृष्ण ! आप (कभी) कर्मों के संन्यास (ज्ञानयोग) की और फिर कर्मयोगकी प्रशंसा करते हैं, इन दोनोंमें जो एक सुनिश्चित श्रेष्ठ हो, वह मुझसे कहिये ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

संन्यास इति । संन्यासः कर्मणां त्यागः । कर्मयोगश्च । उभौ द्वौ । निःश्रेयसकरौ यथाधिकारं हितकरौ स्तः । अपि । तयोर्मध्ये । कर्मसंन्यासात् । कर्मयोगः । विशिष्यते तु शब्दोऽप्यर्थे ॥ २ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—संन्यास (ज्ञानयोग) और कर्मयोग दोनों कल्याण करनेवाले हैं; परन्तु उन दोनों में कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है ॥ २ ॥

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कस्मादित्यपेक्षायामाह । ज्ञेय इति । हे महाबाहो । यो न कांक्षति न द्वेष्टि । मदाराधनात्मककर्मयोगांतर्गतप्रियेषु रागद्वेषादिराहित्ये न मत्प्रसन्नतायै य एनमुतिष्ठतीत्यर्थः । निर्द्वंद्वो रागद्वेषादिरहितत्वात्सुखदुःखादिरहितश्च भवति । स मद्भक्तः । नित्यसंन्यासी ज्ञेयः कर्मानुष्ठानसमयेऽपि संन्यस्तवज्ज्ञाननिष्ठो बोधः । अतः । स हि । सुखं यथा तथा । बंधात्कर्मबन्धात् । संसारादित्यर्थः । प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

महाबाहु अर्जुन ! जो न द्वेष करता है और न आकांक्षा करता है, वह नित्य संन्यासी ही समझा जाना चाहिये; क्योंकि द्वन्द्व से रहित पुरुष सुख पूर्वक बन्धन से छूट जाता है ॥ ३ ॥

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥

इदानीं द्वयोरनुष्ठाने फलैक्यमाह । सांख्येति । सांख्यज्ञानयोगश्च योगः कर्मयोगश्च तौ । बाला यथार्थतज्ज्ञानरहिताः । पृथग्भिन्नफलौ । प्रवदंति । अपि । पंडितास्तयोर्यथार्थसिद्धांतज्ञमद्भक्ताः न पृथक्फलौ तौ न कथयंतीत्यर्थः । तत्र हेतुमाह । एकमपि सांख्ययोगं कर्मयोगं वा । सम्यक् । आस्थित आश्रितः सन् । उभयोस्तयोर्द्वयोः । फलम् । विंदते प्राप्नोति । उभयोर्मत्परत्वेन मोक्षसाधनत्वादिति भावः ॥ ४ ॥

जो सांख्य (ज्ञानयोग) और योग (कर्मयोग) को (फलका भेद बताकर) पृथक्-पृथक् बतलाते हैं, वे बालक हैं, पण्डित नहीं । (वस्तुतः) एक में भी पूरी तरह से स्थित पुरुष दोनों के फल को पा लेता है ॥ ४ ॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

एतदेव पुनर्व्यनक्ति । यदिति । सांख्यं जीवमायेश्वरादिस्वरूपयथार्थज्ञानमस्त्येषां तथोक्तैर्ज्ञाननिष्ठमद्भक्तैः । यत् स्थानम् । प्राप्यते । तत्तदेव स्थानम् । योगैरुक्तलक्षणकर्मयोगनिष्ठमद्भक्तैरपि । गम्यते प्राप्यते । अतो हेतोः । सांख्यम् । योगम् । एकं फलैक्येन समानम् । यः । पश्यति । स च एव । पश्यति । समीचीनज्ञानवानस्तीत्यर्थः ॥ ५ ॥

सांख्ययोगियों के द्वारा जो स्थान प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियों के द्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है । (इस प्रकार) सांख्य और योग को जो एक देखता है, वही (यथार्थ) देखता है ॥ ५ ॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इदानीं संन्यासस्य दुष्करत्वं वदन्नाह। संन्यास इति। हे महाबाहो। संन्यासस्त्यागिधर्मभूतज्ञानयोगस्तु। अयोगतोऽसंगकर्मानुष्ठानमंतरा। आप्तुं प्राप्तुम्। दुःखमशक्योऽस्तीत्यर्थः। योगेनासंगकर्मानुष्ठानेन युक्तः। मुनिरात्मरूपेण परमात्मनो मम मननशीलो भक्तः। ब्रह्मपरब्रह्मसंज्ञं माम्। न चिरेणाल्पकालेन। अधिगच्छति प्राप्नोति॥ ६॥

परन्तु अर्जुन! कर्मयोग के विना संन्यास का पाना कठिन है और कर्मयोग युक्त मुनि ब्रह्म को शीघ्र प्राप्त हो जाता है॥ ६॥

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ ७॥

अथैवंभूतस्य निर्लेपत्वं वदन्नाह। योगेति। योगेन मदाराधनरूपकर्मयोगेन युक्तः। अत एव। विशुद्ध आत्माऽन्तःकरणं यस्य सः। अत एव। विजितोन्यन्मूर्त्तौ स्थिरीकृतः आत्मा मनो येन सः। जितानींद्रियाणि येन सः। अतएव। सर्वभूतानामक्षरं ब्रह्म तद्भूतस्तत्सदृश आत्मा क्षेत्रज्ञो यस्य तथाभूतो मद्भक्तः। कुर्वन्। लोकसंग्रहाय स्वाश्रमोपयोगिकर्माचरन्नपि न लिप्यते तत्फलैर्न बध्यत इत्यर्थः॥ ७॥

कर्मयोग से युक्त विशुद्धात्मा, मन पर विजय पाया हुआ, इन्द्रियविजयी, समस्त भूतप्राणियों की आत्मा को अपनी आत्मा समझनेवाला पुरुष (परम पुरुष की आराधना रूप विशुद्ध) कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता॥ ७॥

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥ ८॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥ ९॥

एतदेव विवेचयति द्वाभ्याम्। नैवेति। प्रलपन्निति। तत्त्वविदात्मनां मम। च स्वरूपयाथार्थ्यवेत्ता युक्तो मन्निबद्धनियमेषु समाहितो मद्भक्तः। पश्यन्। शृण्वन्। स्पृशन्। जिघ्रन्। अश्नन्। गच्छंश्चलन्। स्वपन्। श्वसन्प्राणान्धारयंश्च। प्रलपञ्जल्पन्। विसृजन्मलमूत्रादींस्त्यजन्। गृह्णन्नवश्यदेहस्थित्युद्यमं कुर्वन्नित्यर्थः। उन्मिषन्निमिषन्नेत्रे उन्मीलयन् अनुन्मीलयन्नपि। इंद्रियाणि श्रोत्रवागादीनि ज्ञानकर्मेंद्रियाणि प्राणांश्च। इंद्रियार्थेषु तत्तद्विषयेषु। वर्तंते प्रवर्तन्ते। इति। धारयन्विचारयन्सन्। अहम्। किंचित्किमपि। नैव। करोमि। इति मन्येत। आत्मपरमात्मानुसंधानेन तत्राभिमानाभावादितिभावः। इति द्वयोरेकान्वयः॥ ८–९॥

तत्त्व को जाननेवाला पुरुष देखता, सुनता, स्पर्श करता, सूँघता, खाता, चलता, सोता, श्वास लेता, बोलता, त्यागता, ग्रहण करता, (आँखें) खोलता और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मीचता हुआ भी यह निश्चय करके कि 'इन्द्रियाँ ही इन्द्रियों के विषयों में कार्य कर रही हैं' ऐसा समझे कि 'मैं कुछ भी नहीं करता हूँ' ॥ ८–९ ॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥

तदेव पुनः स्पष्टयति । ब्रह्मणीति । यो मद्भक्तः कर्माणि ब्रह्मण्याधाय भगवत्प्रसन्नतायै करोमीति संकल्प्य । संगं तत्फलासक्तित्वम् । त्यक्त्वा । करोति शास्त्रेण कर्त्तव्यतया विहितानि तानि विदधाति । सः । अंभसा । पद्मपत्रम् । इव । पापेन तत्संसर्गजेन बंधहेतुना येन केनाप्यघेन न लिप्यते न बध्यते ॥ १० ॥

जो मनुष्य कर्मों को ब्रह्म (प्रकृति) में छोड़ कर और आसक्ति को त्याग कर (कर्म) करता है, वह पाप से वैसे ही लिप्त नहीं होता, जैसे जल से कमल का पत्ता ॥ १० ॥

कायेन मनसा बुद्‌धया केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्‌धये ॥ ११ ॥

अथ सदाचारेण निर्बंधत्वं दर्शयन्नाह । कायेनेति । योगिनो मत्प्राप्त्यभिलाषुककर्मयोगिनः । आत्मनः स्वस्य शुद्धये । संगं फलासक्तिम् । त्यक्त्वा । कायेन । मनसा । बुद्धया । केवलैः क्रियाभिनिवेशरहितैः । इन्द्रियैरपि श्रोत्रवागादिभिश्च । कर्म स्नानध्याननिश्चयश्रवणकीर्त्तनादिकम् । कुर्वन्ति ॥ ११ ॥

योगी लोग आसक्ति को त्याग कर आत्मशुद्धि के लिये ही शरीर, मन, बुद्धि और केवल इन्द्रियों से भी कर्म करते हैं ॥ ११ ॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२ ॥

ननु कर्मभिः कश्चिन्बध्यते कश्चिन्नेति कथं तत्राह । युक्त इति । युक्तो मदनन्यभक्तत्वाद्विवेकवान् । कर्मफलम् । त्यक्त्वा । नैष्ठिकीमात्यंतिकीम् । शांतिम् । आत्यंतिकमोक्षमित्यर्थः । आप्नोति । अयुक्तो मद्बहिर्मुखत्वादविवेकवान् कामकारेण कयाचिन्मद्व्यतिरिक्तेच्छया फले । सक्तः सन् । निबध्यते ॥ १२ ॥

युक्त पुरुष कर्मफलको त्याग कर नैष्ठिकी शान्ति को प्राप्त होता है और अयुक्त पुरुष कामना के द्वारा फल में आसक्त होकर बँध जाता है ॥ १२ ॥

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इदानीं शुद्धचित्तस्य संन्यासः सुखप्रद इत्याह । सर्वेति । नव पायूपस्थरूपे द्वेऽधोवर्त्तिनी, नेत्रे नासिके कर्णौ मुखं चेति सप्तोर्ध्ववर्तीनि द्वाराणि यस्मिंस्तस्मिन् । पुरे देहे । प्रारब्धकर्मभोगार्थं वसन्निति शेषः । देही प्रत्यक्षमदाराधनपरो योगी । वशी मन्मूर्त्तौ स्थिरीकृतचित्तः । अत एव । सर्वाणि यानि कर्माणि तानि । मनसाऽविवेकयुक्तेनऽस्वांतेन । संन्यस्य त्यक्त्वा नैव कुर्वन्नहंत्वाभावात्स्वयं तान्यनाचरन् । न कारयन्ममत्वाभावान्नन्यैर्न विधाययंश्चसन् । सुखं यथा । आस्तेऽवतिष्ठते ॥ १३ ॥

अपने को वशमें रखनेवाला देही मन के द्वारा सब कर्मों को नव द्वारवाले शरीर में छोड़ कर स्वयं न (कुछ) करता हुआ, न कराता हुआ सुखपूर्वक रहता है ॥ १३ ॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥

एतद्विधज्ञाननिष्ठस्याखिल्लोके स्वाभाविकं निर्लेपत्वमस्तीत्याह । नेति । प्रभुः सर्वेन्द्रियाणि नियम्यात्माभिमानत्वेन वर्त्तमानो योगी । लोकस्य प्रकृतिसंबंधत्वाद्देवमनुष्यादिरूपेण वर्त्तमानस्य जीवलोकस्य । कर्तृत्वं देहाभिमानेन प्रवृत्तु यत्कर्मकर्तृभावं तत् । न सृजति स्वयं नोत्पादयति । कर्माणि ममत्वेन क्रियमाणानि स्वस्वजात्यनुसाराणि कर्माणि च नोत्पादयति । निर्ममत्वेन तानि करोतीत्यर्थः । कर्मणा त्रिगुणात्मककर्मणोत्पन्नं यत्फलं तस्य संयोगं संबंधं च नोत्पादयति । ननु तर्हि देहनिर्वाहोपयोगि कर्म स कथं करोतीत्यत्राह । स्वभाव इति । स्वभावः प्राचीनकर्मानुसारेण देहेंद्रियव्यापाररूपप्रकृतिस्तु । प्रवर्त्तते प्रारब्धानुसृतदेहनिर्वाहोपयोगिकर्मस्वभिवर्त्तते । अपि त्रिगुणात्मकं कर्तृत्वादिकं स नाभिमन्यते इति भावः ॥ १४ ॥

न तो भूतप्राणियों के कर्तापन को, न कर्मों को और न कर्मफल के संयोग को ही प्रभु (आत्मा) रचता है; किन्तु (इन सबमें) स्वभाव ही प्रवृत्त होता है ॥ १४ ॥

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ १५ ॥

नादत्त इति । किंच । विभुर्ब्रह्मरूपेण प्राप्तं यन्मत्सुखं तेन परिपूर्णः । अत एव । कस्यचिद्देहेंद्रियादेः पुत्रादिस्वजनस्य च । पापं सुकृतं पुण्यं च तत्तफलरूपे दुःखमुखे इत्यर्थः । नादत्तेऽहं ममत्वाभान्न स्वीकारोति । ननु तर्हि सर्वे जना एवंभूताः कथं न भवंतीत्यत्राह । अज्ञानेति । अज्ञानेनाहं ममत्वरूपबोधेन । ज्ञानमुक्तप्रकारं सर्वेषां वयुनम् । आवृतमाच्छादितं भवति । तेन हेतुना । जंतवः सर्वे प्राणिनः । मुह्यंति विपरितज्ञाना भवंति ॥ १५ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह विभु न तो किसी के पाप को ग्रहण करता है और न किसी के पुण्य को ही। अज्ञान से ज्ञान ढका हुआ है, उसी से जीव मोहित हो रहे हैं॥ १५॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥ १६॥

ज्ञानिनस्तु न मुह्यंतीत्याह। ज्ञानेनेति। येषाम्। तदहं ममत्वरूपम्। अज्ञानम्। आत्मनः स्वात्मपरमात्मनोः। ज्ञानेन स्वरूपवेदनेन। नाशितं। तेषां तथाविधमद्भक्तानां तु। परं श्रेष्ठम्। तदात्मपरमात्मसंबंधि। ज्ञानम्। आदित्यवत्। प्रकाशयति। सूर्यो यथा तिमिरं निरस्य सर्ववस्तुन्याभासयति तथा तदप्यज्ञानं हत्वा वस्तुयाथात्म्यं बोधयतीत्यर्थः॥ १६॥

परन्तु जिनका वह अज्ञान आत्मा के ज्ञान से नष्ट कर दिया गया है, उनका वह स्वाभाविक परम ज्ञान सूर्य के समान (सब वस्तुओं को) प्रकाशित कर देता है॥ १६॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥ १७॥

अथैतज्ज्ञानस्य फलमाह। तदिति। तस्मिञ्ज्ञाने बुद्धिर्निश्चयात्मिका धीर्येषां ते। तस्मिन्नेवात्मनो येषां ते। तस्मिन्नेव निष्ठाऽभ्यासावृत्तिर्येषां ते। तदेव परं श्रेष्ठमयनमाश्रयो येषां ते। ज्ञानेनोक्तलक्षणसंविदा निर्धूतं विनष्टं कल्मषं सूक्ष्मवासनात्मकपापं येषां ते प्रत्यक्षस्य मम भक्ताः। अपुनरावृत्तिपरममोक्षम्। गच्छंति पाप्नुवंति॥ १७॥

उस (आत्मा) में बुद्धिवाले, उसी में मनवाले, उसी में निष्ठावाले और उसी के परायण रहनेवाले ज्ञान के द्वारा धुले हुए पापोंवाले पुरुष अपुनरावृत्ति को (आत्मा को) प्राप्त होते हैं॥ १७॥

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ १८॥

कीदृशास्ते ज्ञानिनः स्युरित्यपेक्षायामाह। विद्येति। विद्या च विनयश्च ताभ्यां संपन्ने। ब्राह्मणे। गवि। हस्तिनि। शुनि। श्वपाके सर्वतो नीचजातिजमनुष्ये चैव। तत्तद्देहस्थाखिलजीवात्मस्वेवेत्येवकारार्थः। पंडिता क्षेत्रक्षेत्रज्ञस्वरूपयाथार्थ्यज्ञास्ते विद्वांसः। समानि यथाकर्मप्रकृत्युत्पन्नविषमदेहविलक्षणापरिमितात्मनो शुद्धस्वरूपाण्याकारेण जात्या चाछेद्यादिस्वभावैश्च परस्परतुल्यानि पश्यंतीति तथोक्ताः स्युः। वीक्षामात्रेणैवमपि न तु तत्सत्कारे सत्कारस्तु धर्मशास्त्रोक्तविधेनेति श्रीकृष्णचरणाशयः। तथा स्मृतिः। अपूज्यपूजनाच्चैव पूज्यानामप्यपूजनात्। नृघातकसमं पापं शश्वत्प्राप्नोति मानव इति॥ १८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(वे) पण्डितगण विद्याविनयसम्पन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी और कुत्ते तथा चाण्डाल में भी समदर्शी होते हैं ॥ १८ ॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ १९ ॥

इहेति । येषाम् । मनः । साम्ये क्षेत्रज्ञानामुक्तविधसमभावे । स्थितं स्थितिमद्भवेत् । तैस्तथाविधमद्भक्तैः । इह साधनावस्थायामेव । सृज्यत इति सर्गः संसारः । जितो निरस्तः । हि यस्मात् । निर्गता निरस्ता दोषाः सत्त्वरजस्तमोरूपमायिकभावा यस्मात् । अत एव । समं परस्परसमभावेन स्थितं यज्जीवानां स्वरूपं तदेवेत्यर्थः । ब्रह्म ब्रह्मसंज्ञयोक्तमस्ति जातित्वादेकवचनम् । तस्माद्धेतोः । ते जीवन्मुक्तमद्भक्ताः । ब्रह्मणि स्थिता देहत्रयविलक्षणात्मरूपेणावस्थिताः ॥ १९ ॥

जिनका मन समता में स्थित है, उनके द्वारा यहीं (साधनदशा में ही) संसार जीत लिया गया है; क्योंकि निर्दोष ब्रह्म सम है, इसलिये वे (समदर्शी) ब्रह्म में स्थित हैं ॥ १९ ॥

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥ २० ॥

आत्मस्वरूपेण स्थितस्य लक्षणमाह । नेति । ब्रह्मणि स्वरूपे । स्थितः अत एव स्थिरा निश्चला बुद्धिर्यस्य सः । असंमूढो निवृतमोहश्च । ब्रह्मविदात्मपरमात्मस्वरूपज्ञानवान्मद्भक्तः । प्रियं स्वमनोऽनुकूलं वस्तु प्राप्य प्रारब्धकर्मणा संलभ्य । न प्रहृष्येत्प्रहृष्टो न भवेत् । अप्रियं च । प्राप्य । नोद्विजेद्विषादं न प्राप्नुयात् ॥ २० ॥

स्थिरबुद्धि, मोह से रहित, ब्रह्मवेत्ता और ब्रह्म में स्थित पुरुष प्रिय (वस्तु) को प्राप्त होकर हर्ष न करे और अप्रिय को पाकर उद्वेग न करे ॥ २० ॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥ २१ ॥

अथैतद्विधयोगिनः फलमाह । बाह्येति । यः । बाह्या मद्बहिर्मुखेंद्रियभोग्या ये स्पर्शा मायिकपंचविषयास्तेषु । असक्त आसक्तिरहित आत्मा मनो यस्य तथाविधो योगी । आत्मनि । यत् । सुखम् । तत् । विंदति प्राप्नोति । स एव । ब्रह्मणि परब्रह्मणि मयि योगेन समाधिना युक्त ऐकाग्र्यं प्राप्त आत्मा मनो यस्य तथोक्तः सन् । अक्षयमविनाशि । सुखं ब्रह्मरूपेण परब्रह्मणो मम सेवारूपम् । अश्नुते लभते ॥ २१ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बाह्य विषयों में आसक्तिरहित मनवाला पुरुष जब आत्मा में ही सुख प्राप्त करता है तब वह ब्रह्मयोगयुक्त मनवाला होकर अक्षय (ब्रह्मानुभवरूप) सुख को भोगता है ॥ २१ ॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२ ॥

इदानीं प्राकृतविषयाणां दुःखहेतुत्वं वदन्नाह । ये हीति । हे कौंतेय । ये संस्पर्शजा विषयेंद्रियसंमेलनजाः । भोगाः सुखानि । ते । दुःखयोनय एव रागद्वेषादिदोषागारत्वेन दुःखस्यैव कारणभूताः संति हि नात्र संदेहः ईदृशा अपि न ते नित्या इत्याह । आदिरुत्पत्तिश्चांतो विनाशश्च तावेषांस्त इति तथोक्ताः संति । अतो हेतोः । बुधो ज्ञाननिष्ठो मद्भक्तः । तेषु प्राकृतविषयेषु । न रमते प्रीतिं न करोति ॥ २२ ॥

विषय और इन्द्रियों के सम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाले जो भोग हैं वे दुःख की योनियाँ हैं और आदि-अन्तवाले हैं, इससे अर्जुन ! बुद्धिमान् पुरुष उनमें नहीं रमता ॥ २२ ॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३ ॥

अत्र परत्र च सदा यः सुखी तमनुवदति । शक्नोतीति । यः । शरीरस्य विमोक्षणात्पतनात् । प्राक् । यावज्जीवितमित्यर्थः । कामक्रोधोद्भवम् । वेगं मनोनेत्रश्रोत्रवाक्त्वगादिक्षोभलक्षणम् । इह तदुद्भवसमय एव । सोढुं प्रतिरोद्धुम् । शक्नोति । सः । नरः । सुखी सति देहे सुखाब्धिमग्नोऽस्ति । स एव । युक्तो मद्धामप्राप्त्यर्हश्च भवति ॥ २३ ॥

जो शरीर छूटने के पहले यहाँ ही काम-क्रोध से उत्पन्न होनेवाले वेग को सहन करने में समर्थ होता है, वही मनुष्य युक्त है और वही सुखी है ॥ २३ ॥

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥

पुनः स्वधामप्राप्त्यर्हस्य लक्षणं वदन्नाह । य इति । यः । अंतरात्मन्येव सुखं यस्य सः । न मायिकविषयैः सुखवानित्यर्थः । अंतरात्मनि ध्येयमत्स्वरूपे एवारामो विश्रामो यस्य सः । तथा । यश्च । अंतः मनश्चिंतिते साक्षाद्दृग्गोचरे वा मत्स्वरूपे ज्योतिर्दृष्टिर्यस्य सः । सः । योगी । ब्रह्मभूतोऽक्षरब्रह्मसाधर्म्यं प्राप्तः सन् । ब्रह्मणि ब्रह्मधाम्नि यन्निर्वाणं मत्सुखं तत् । अधिगच्छति प्राप्नोति ॥ २४ ॥

जो अन्तरात्मा में सुखवाला, अन्तरात्मा में ही रमण करनेवाला और अन्तरात्मा की ज्योतिवाला है, वह ब्रह्मस्वरूप योगी आत्मानुभवरूप सुख को प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥

लभंत इति । किंच । क्षीणे सत्साधनैर्विनष्टं कल्मषं प्राचीनाघं येषां ते । छिन्नं द्वंद्वं शीतोष्णादि येषां ते । अत एव । यतः संयत आत्मा चित्तं येषां ते । सर्वाणि यानि भूतानि स्थावरजंगमदेहिनस्तेषां हि ते श्रेयसि रताः प्रसक्ताः । ये ऋषयो ज्ञानिभक्तास्ते । ब्रह्मनिर्वाणमोक्षम् । लभंते ॥ २५ ॥

द्वन्द्वों से छूटे हुए आत्मा में ही मन को लगाये रखनेवाले, सब भूत-प्राणियों के हित में लगे हुए और पापों का क्षय कर चुके हुए ऋषिगण ब्रह्म-निर्वाण को प्राप्त होते हैं ॥ २५ ॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥

कामेति । किं च । कामक्रोधाभ्यां वियुक्तानां रहितानाम् । अत एव । यतचेतसां मन्निबद्धमर्यादास्थिरचित्तानाम् । विदित आत्मा मत्स्वरूपं यैस्तेषाम् । प्रत्यक्षमत्स्वरूपदृढ-निश्चयवतामित्यर्थः । यतीनां संत्यक्तद्रव्यस्त्रीपुत्रैषणानां जनानाम् । ब्रह्मनिर्वाणं मोक्षः । अभित उभयतेऽत्र परत्र च । वर्त्तते । तेषां सति देहे जीवन्मुक्तत्वं देहांते च मद्धाम्नि मत्सेवायां स्थायित्वमेवास्तीत्यर्थः ॥ २६ ॥

काम-क्रोध से रहित, यत्नशील, संयमित चित्तवाले एवं विजितात्मा पुरुषों के लिये सब ओर से ब्रह्मनिर्वाण ही (प्राप्त) रहता है ॥ २६ ॥

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ २७ ॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥

अथ योगिनां ध्यानप्रकारं वदञ्जीवन्मुक्तलक्षणमाह द्वाभ्याम् । स्पर्शानिति । यतेति मोक्ष एव परं श्रेष्ठमयनं प्राप्यं यस्य तथाभूतः । यः । मुनिरात्मपरमात्ममननशीलो योगी । बाह्यान्बहिर्भवान् । स्पर्शान् शब्दादिविषयान् । बहिः कृत्वा तद्भोगेच्छां विहायेत्यर्थः । चकाराद्ध्यानार्हासने स्थित्वा । चक्षुर्नेत्रयोर्वृत्तिं च । भ्रुवोरंतरे नासिकाप्रांतभाग एव । कृत्वा । अत्यंतनेत्रयोर्निमीलनान्निद्रया मनो लीयते उन्मीलनाच्च बहिः प्रसरत्यतो दोषद्वय-परिहारायार्द्धनिमीलनेन भ्रूमध्ये दृष्टिं निधायेत्यर्थः । नासयोर्नासिकयोरभ्यंतरे नाभ्यधोभागे च चरत इति तथोक्तौ तौ । प्राणश्चापानश्च तौ समावूर्ध्वामधोगतिनिरोधेन समस्थितिमंतौ । कृत्वा । यताः संयता इन्द्रियमनोबुद्धयो येन सः । अत एव । इच्छा मत्सेवेतरप्राप्त्यभिलाषश्च

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भयं तत्साधनप्रवृतौ देहदैहिकनाशभीतिश्च क्रोध इच्छाभंगकर्त्तरि रोषश्च विगता विनष्टास्ते यस्य तथाभूतो भवति। स योगी। सदा मुक्तो जीवन्मुक्त एवास्ति। इति द्वयोरेकान्वयः ॥ २७–२८ ॥

जो वाह्य विषयों को बाहर कर के, नेत्र को भ्रुवों के बीच में स्थित कर के, नासिका के भीतर विचरनेवाले प्राण और अपान को सम करके इन्द्रिय-मन–बुद्धि को वश में कर लेनेवाला मोक्षपरायण मुनि इच्छा, भय और क्रोध से रहित है, वह सदा ही मुक्त है ॥ २७–२८ ॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ २९ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो
नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

नन्वेवमिंद्रियवशीकरणमात्रेण कथं मुक्तः स्यादित्याशंक्य न तावन्मात्रेण किंतु मन्माहात्म्यज्ञानद्वारेणेत्याह। भोक्तारमिति। यज्ञतपसां मद्भक्तैर्मत्प्रसन्नतायै कृतानां तदादीनामित्यर्थः। भोक्तारं पालकं तत्फलदातारमित्यर्थः। सर्वे ये लोकालोकस्था ईश्वरास्तेषां महांश्चासावीश्वरश्च तम्। सर्वाणि यानि भूतानि बद्धमुक्तक्षेत्रज्ञवृंदानि। तेषाम्। सुहृदमंतर्यामिणं चा। मां प्रत्यक्षम्। ज्ञात्वा। एतद्विज्ञानपूर्वकं प्रत्यक्षे मयि मनः संयोज्येत्यर्थः। शांतिमात्यन्तिकी मुक्तिम्। इच्छति स योगी प्राप्नोति ॥ २९ ॥

इति श्रीभगवद्गीताटीकायामन्वयार्थदीपिकायां पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

मुझ को यज्ञ-तपों का भोक्ता, सब लोकों का महान् ईश्वर और सब प्राणियों का सुहृद् जानकर शान्ति को प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ षष्ठोऽध्यायः

षष्ठे प्रोक्तोऽभ्यासयोगः साक्षाद्धरेरुपासना ।
श्रुद्धात्मना च हृत्स्थैर्यं योगभ्रष्टगतिस्तथा ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ १ ॥

अथ ज्ञानयोगकर्मयोगैक्यं निरूपयन्नाह । अनाश्रित इति । यः । कर्मणो मदाराधनसहितवर्णाश्रमोचितकृतक्रियाया यत्फलं तत् । अनाश्रितोऽनन्विच्छन्सन् । कार्यमवश्यकरणीयम् । कर्म । करोति । सः । संन्यासी । योगी च । द्विविधोऽपि मद्भक्त इत्यर्थः । निरग्निरग्निहोत्रादिकर्मत्यागी । न भवेत् । अक्रियश्च न पूर्त्तादिकर्मत्यागी च न भवेत् । उभयोर्मयि समर्पणेन मोक्षसाधनत्वादितिभावः ॥ १ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—कर्मफल का आश्रय न लेनेवाला जो पुरुष कर्तव्य कर्म करता है, वह संन्यासी और योगी है, न कि अग्निरहित और क्रियारहित पुरुष ॥ १ ॥

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥

कुत इत्यपेक्षायां ज्ञानांशमिश्रितकर्मयोगस्यैव ज्ञानयोगं वदन्नाह । यमिति । हे पांडव यंज्ञानयोगम् । संन्यासं त्यागिधर्म इति । प्राहुः प्रकर्षेण योगद्वययाथार्थ्यविदो वदति । तं ज्ञानयोगम् । कर्मयोगमेव । विद्धि त्वं जानीहि । कुत इत्यपेक्षायामाह । नेति । असंन्यस्तो न त्यक्तः संकल्पस्तत्फलेच्छा येन सः । कश्चन कोऽपि । योगी कर्मयोगी । न हि नैव भवति तस्य मदाराधनात्मककर्मयोगीत्वं न सिद्ध्यतीत्यर्थः । आत्मपरमात्मस्वरूपज्ञानेन । संत्यक्तैषणामात्रस्य कर्मयोगिनो ज्ञानयोगित्वमेवास्तीति भावः ॥ २ ॥

पाण्डुनन्दन ! जिसको संन्यास (ज्ञानयोग) कहते हैं उसी को तू योग (कर्मयोग) जान; क्योंकि संकल्पों का त्याग न करनेवाला कोई भी पुरुष योगी नहीं होता ॥ २ ॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इदानीं तयोर्मोक्षपथि पृथक्पृथक्कारणत्वं वदति। आरुरुक्षोरिति। योगं ज्ञानयोगम्। आरुरुक्षोरारोढुं प्राप्तुमिच्छोः। मुनेः। कर्म मदाराधनात्मकं कर्म। कारणं तदारोहे हेतुभूतम्। उच्यते। चित्तशुद्धिकरत्वादिति भावः। योगं शुद्धात्मरूपेण परमात्मनो ममावलोकनरूपं ज्ञानयोगमारूढस्य प्राप्तस्य। तस्य मुनेः। कारणं मन्मूर्त्तौ चित्तैकाग्र्यभवनहेतुभूतः। शमोऽन्तःकरणवृत्तीनां प्राकृतविषयेभ्यः परावृत्तिरेव। उच्यते ॥ ३ ॥

योगारूढ होने की इच्छावाले मुनि के लिये कर्म कारण कहा जाता है और योगारूढ पुरुष के लिये शम (कर्म की निवृत्ति) कारण कहा जाता है ॥ ३ ॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

कीदृशोऽसौ ज्ञानयोगी यस्य शमः कारणं वदसीत्यत्राह। यदेति। यदा। इन्द्रियाणामर्थेषु प्राकृतविषयेषु। न ह्यनुषज्जते नैवासक्तिं कुर्यात्। कर्मसु तत्साधनभूतक्रियासु च। सर्वे आसक्तिमूलभूता भोगविषयाः कर्मविषयाश्च ये संकल्पा मनोरथास्तान्संन्यसितुं त्यक्तुं शीलं यस्य तथाभूतश्च यो भवेत्। तदा तर्हि। योगारूढः संज्ञानयोगी इति। उच्यते ॥ ४ ॥

जब योगी (पुरुष) निश्चयपूर्वक न तो इन्द्रियों के अर्थों में आसक्त होता है और न कर्मों में ही, तव वह सर्वसंकल्प का त्यागी योगारूढ़ कहलाता है ॥ ४ ॥

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

उद्धरेदिति। यत एवमतो हेतोः। आत्मना मायिकविषयाभिलाषारहितेन मनसा। आत्मानम्। स्वजीवात्मानम्। उद्धरेत् संसारादितिशेषः। अपि। आत्मानम्। नावसादयेत् संसाराब्धौ न निमज्जयेत्। यस्मात्। आत्मविषयेभ्यः परावृत्तं मन एव। आत्मनः स्वस्य। बंधुरुपकारकः मित्रमित्यर्थः। आत्मा विषयासक्तं तदेव। आत्मनः स्वस्य। रिपुः शत्रुवदपकारकश्चास्ति ॥ ५ ॥

(मनुष्य) आत्मा (मन) से आत्मा का उद्धार करे, आत्मा को नीचे न गिरावे; क्योंकि आत्मा (मन) ही आत्मा का वन्धु है और आत्मा (मन) ही आत्मा का शत्रु है ॥ ५ ॥

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कीदृशस्य स एव बंधुः शत्रुरित्यत आह । बंधुरिति येन । आत्मना विवेकाढ्यधिया । आत्मा जितो मनो वशिकृतं भवेत् । आत्मनो जीवात्मनः । तस्य जनस्यैव । आत्मनः । बंधुरिहासुत्र हितकरः । अनात्मनोऽजितात्मनस्तु । आत्मा तथाभूतं स्वमन एव । शत्रुत्वेऽस्यापकारकरणे शत्रुवत् । वर्तेत ॥ ६ ॥

जिसने आत्मा के द्वारा आत्मा (मन) को जीत लिया है, निस्सन्देह उसका आत्मा (मन) उसका बन्धु है; किन्तु जिसने अपने मन को नहीं जीता है, उसका आत्मा (मन) शत्रु की भाँति शत्रुता में ही वर्तता है ॥ ६ ॥

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥

अथ जितात्मनो गुणमाह । जितेति । शीतं च उष्णं च सुखं दुःखं च तेषु । तथा । मानश्चापमानश्च तयोः । जित एक स्थितिमान्कृत आत्मा मनो येन तस्य । अत एव । प्रशांतस्य तत्तद्विकारवर्जितस्य योगिनः । हृदितिशेषः । परमात्माऽहम् । समाहितः सम्यक्स्थितोऽस्मि ॥ ७ ॥

शीत-उष्ण, सुख-दुःख और मान-अपमान में जिसका आत्मा (मन) जीता हुआ है, उस प्रशान्त पुरुष के मन में परमात्मा समाहित रहता है ॥ ७ ॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥

पुनर्ज्ञानयोगिनो लक्षणं श्रेष्ठ्यं च वदति । ज्ञानेति । ज्ञानं शास्त्रजन्यं च विज्ञानमपरोक्षानुभवश्च ताभ्यां तृप्तः प्राकृतपदार्थाकांक्षारहित आत्मा मनो यस्य सः । विजितानींद्रियाणि येन सः । अत एव । कुटस्थो निर्विकारः । अतएव । समानि लोष्टाश्मकांचनानि यस्य सः । मृत्खंडपाषाणसुवर्णेषु हेयोपादेयबुद्धिशून्य इत्यर्थः । योगी । युक्तो ज्ञानयोगी । इति । उच्यते ॥ ८ ॥

जिसका आत्मा (मन) ज्ञान-विज्ञान से तृप्त है, जो कूटस्थ है, विजितेन्द्रिय है और मिट्टी, पत्थर तथा सुवर्ण को समान समझनेवाला है, वह योगी युक्त कहा जाता है ॥ ८ ॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

तथाभूतं तं विशिषयति । सुहृदिति । सुहृत्स्वाभाविकहिताशंसी च मित्रं स्नेहवशादुपकारकश्च अरिरनर्थकरश्च उदासीनो विवदमानयोरुभयोरप्युपेक्षकश्च मध्यस्थस्तयो-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्वयोरपि हिताशंसी च द्वेषो जन्मत एवानिष्टेच्छुश्च बंधुर्जन्मत एव हितैषी च तेषु। साधुषु सदाचारवत्सु च। पापेषु दुराचारवत्स्वपि। समा मद्ध्यानैकप्रयोजनत्वेन तैः सह प्रयोजनाभावाद्धेतो रागद्वेषादिशून्या बुद्धिर्यस्य स तु। विशिष्यते विशिष्टो भवति ॥ ९ ॥

जो पुरुष सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी और बन्धुओं में तथा साधुओं और पापियों में भी समबुद्धि रखता है, वह अतिश्रेष्ठ है ॥ ९ ॥

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥

तदेवं ज्ञानयोगिनो लक्षणमुक्त्वेदानीं तस्य सांगं योगं कथयति त्रयोविंशतिश्लोकैः योगीति। यतं नियतं चित्तमात्मा देहश्च यस्य सः। निराशीर्मदन्याकांक्षारहितः। अतएव। न विद्यते परिग्रहो मदन्यवस्तुसंग्रहो यस्य सः। योगी योगाभ्यासशीलो मुनिः। एकाकी ध्यानविक्षेपकृज्जनरहितः। रहसि ध्यानविक्षेपकजनशून्यस्थाने। स्थितश्च सन्। सततमनारतम्। आत्मानं मनः। युंजीत ध्येये मत्स्वरूपे समाहितं कुर्यात् ॥ १० ॥

चित्त और मन को वश में कर लेनेवाला योगी एकान्त में अकेला स्थित होकर तथा आशा और परिग्रह से रहित होकर अपने आप को निरन्तर (आत्मा में) युक्त करे ॥ १० ॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ११ ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥

आसननियमं दर्शयन्नाह द्वाभ्याम्। शुचाविति। शुचौ देशे दुष्टजनादिसंपर्करहित-स्थानेऽस्थिरं निश्चलम् अत्युच्छ्रितमत्यंतोन्नतम्। न अतिनीचं च न चैलं वस्त्रं च अजिनं मृगचर्म च कुशाश्च ते उत्तरे उत्तरोत्तरश्रेष्ठा यस्मिंस्तत्। चैलाजिनं तस्मात्कुशासनं च श्रेष्ठमित्यर्थः। तथाभूतम्। आत्मनः स्वस्य। आसनम्। प्रतिष्ठाप्य स्थापयित्वा ॥ ११ ॥

तत्रेति। तत्र तस्मिन्। आसने। उपविश्य। यता उपरताश्चितस्यांतःकरणस्यें-द्रियाणां च क्रियाः स्वस्वविषयेषु प्रवर्त्तनरूपा यस्य तथाभूतः सन्। आत्मनोऽतःकरणस्य या विशुद्धिस्तस्यै। एकाग्रं ध्येयविषयैकवृत्तिमत्। मनः। कृत्वा। योगं युंज्यादभ्यसेत्। इति द्वयोरेकसंबंधः ॥ १२ ॥

शुद्ध स्थान में न अत्यन्त ऊँचा, न अत्यन्त नीचा अपना स्थिर आसन स्थापित कर के उस पर वस्त्र, मृगछाला और कुशा एक के ऊपर एक (बिछाकर) उस आसन पर बैठ कर, चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को रोक कर मन को एकाग्र कर के आत्मशुद्धि के लिये योग का साधन करे ॥ ११-१२ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ १४ ॥

योगाभ्यासोपयोगिनीं देहादिधारणां दर्शयन्नाह द्वाभ्याम् । सममिति । कायः शरीरमध्यभागश्च शिरश्च ग्रीवा च तत् । मूलाधारादारभ्य मूर्द्धांतपर्यन्तमित्यर्थः । सममृजु । अचलं च । धारयन् । स्थिरोऽतिदृढाग्रहः । स्वं स्वकीयम् । नासिकाग्रम् । संप्रेक्ष्य । दिशं इतस्ततः प्रदेशेष्वित्यर्थः । अनवलोकयंश्च सन् ॥ १३ ॥

प्रशांतेति । प्रशांत आत्मा चित्तं यस्य सः । विगता भीः कालत्रासो यस्य सः । ब्रह्मचारिव्रते ब्रह्मचर्यें । स्थितः सन् । मनः । संयम्य प्रत्याहृत्य । मय्येव चित्तं यस्य सः । अहमेव परः प्राप्यः पुरुषार्थो यस्य स मत्परश्च । युक्त एवंभूतो योगी । आसीत् तिष्ठेत् । इति द्वयोरेकसंबंधः ॥ १४ ॥

काया, शिर और गले को सम, अचल एवं स्थिरतापूर्वक धारण कर के, अन्य दिशाओं को न देखता हुआ अपनी नासिका के अग्रभाग को देख कर प्रशान्तात्मा, भयरहित और ब्रह्मचर्य के व्रत में स्थित होकर, मन को रोक कर, मुझमें चित्त लगाकर सावधान एवं मेरे परायण होकर बैठे ॥ १३-१४ ॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥

उक्तविधाभ्यासफलमाह । युंजन्निति । एवमुक्तप्रकारेण । सदा । आत्मानं मनः । युंजन्मयि स्थिरं कुर्वन् । नियतं प्राकृतविषयेभ्यो निवृत्तं मानसं यस्य तथोक्तश्च । योगी । निर्वाणं महासुखं परमं प्राप्यं यस्यां ताम् । मत्संस्थाम् । मय्येव सम्यक्तया स्थिताम् । शांतिम् । अधिगच्छति प्राप्नोति ॥ १५ ॥

इस प्रकार सदा आत्मा (मन) को (मुझमें) जोड़ता हुआ निश्चल मनवाला योगी मुझमें स्थित निर्वाण की पराकाष्ठारूप शान्ति को प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥

अथैवं योगनिष्ठस्याहारादिनियममाह द्वाभ्याम् । नेति । हे अर्जुन । योगश्चितैकाग्र्यम् । अत्यश्नतोऽधिकं भुंजानस्य योगिनस्तु । नास्ति न भवति । एकांतमत्यंतम् । अनश्नतश्च । भुंजानस्यापि । न भवति । अत्यंतम् । स्वप्नशीलस्य च निद्रालोरपि । न भवति । जाग्रतश्चातिजागरूकस्यापि । नैव भवति । अत्र चशब्दा अप्यर्थे ॥ १६ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्जुन ! न अति भोजन करनेवाले का, न सर्वथा भोजन न करनेवाले का, न अति सोने के स्वभाव वाले का और न अधिक जागनेवाले का ही योग (सम्पन्न) होता है ॥ १६ ॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥

तर्हि कथंभूतस्य स भवतीत्यत्राह । युक्तेति । युक्तो योगशास्त्रोक्तरीत्या नियमत आहारो विहारश्च यस्य तस्य । कर्मसु कर्त्तव्यक्रियासु । युक्ता योगियोग्या चेष्टांऽतःकरणेंद्रिय-प्रसारो यस्य तस्य । युक्तौ नियमस्थौ स्वप्नावबोधौ निद्राजागरौ यस्य च योगिनः । दुःखहा दुःखनिवर्त्तकः योगः । भवति सिद्ध्यति ॥ १७ ॥

नियमित आहार-विहारवाले का, कर्मों में नियमित चेष्टा करनेवाले का और नियमित सोने तथा जागनेवाले का दुःखनाशक योग (सम्पन्न) होता है ॥ १७ ॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥

कदा निष्पन्नयोगः स च भवतीत्यपेक्षायामाह । यदेति । यदा । विनियतं स्थिरी-कृतम् । चित्तम् । आत्मनि परमात्मनि मय्येव । अवतिष्ठते निश्चलं तिष्ठति । सर्वकाम्येभ्य ऐहिकामुष्मिकसर्वमायिकभोगेभ्यः । निःस्पृहस्तत्प्राप्तीछारहितश्च भवति । तदा । युक्तः प्राप्तयोगः । इति । उच्यते स च कथ्यते ॥ १८ ॥

जब सब ओर से रुका हुआ चित्त आत्मा में ही स्थित होता है, तब वह समस्त भोगों से निःस्पृह हुआ (योगी) युक्त है, ऐसा कहा जाता है ॥ १८ ॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥ १९ ॥

एवंभूतयोगिनो मनः स्थिरत्वे दृष्टांतमाह । यथेति । यतं वशीभूतं चितं यस्य तस्य । योगं युञ्जतो योगाभ्यासं कुर्वतः । योगिनः । आत्मनो मनसः । सा । उपमा । स्मृता । सा केत्यपेक्षायामाह । निवाते वातशून्ये देशे तिष्ठतीति तथोक्तः । दीपः । यथा । नेंगते न विचलतीत्यर्थः ॥ १९ ॥

जैसे वायुरहित स्थान में रक्खा हुआ दीपक हिलता-डोलता नहीं है, वही उपमा आत्मविषयक योग में लगे हुए संयतचित्त योगी के आत्मस्वरूप की बतलायी गयी है ॥ १९ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥

अथ स्वरूपेण फलेन च परिपूर्णं योगमाह चतुर्भिः। यत्रेति। योगश्चित्तवृत्ति-निरोधस्तस्य सेवयाऽभ्यासेन। निरुद्धं वशीभूतम्। चित्तम्। यत्र योगे। उपरमते सर्वोत्तम-सुखं लब्ध्वा क्रीडति। यत्र च योगे। आत्मना स्वयम्। आत्मनि योगसंशुद्धे स्वात्मनि। आत्मानं परमात्मानं मामेव। पश्यन्सन्। तुष्यति संतोषं प्राप्नोति ॥ २० ॥

योग के अभ्यास से सर्वथा निरुद्ध चित्त जिस योग में उपरत हो जाता है और जिस योग में वह आत्मा (मन) से आत्मा को ही देखता हुआ आत्मा में ही सन्तुष्ट हो जाता है ॥ २० ॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥

सुखमिति। यत्र च योगे। बुद्ध्या शास्त्रनिष्णातधिया ग्राह्यं ग्रहीतुं शक्यम्। अत एव। अतींद्रियमिंद्रियाण्यतिक्रम्य स्थितम्। यत्। आत्यंतिकमविनाशि सद्दिव्यं सर्वोत्तमं च। सुखम्। अस्ति। तत्सुखम्। वेत्ति प्रत्यक्षत्वेन योगी अनुभवति। यश्च। स्थितः अयं योगी। तत्त्वतः परमात्मनो मम स्वरूपात्। नैव चलति। मदन्यत्सुखं प्राप्तुं नैव गच्छतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

ऐसा जो इन्द्रियों से अतीत और बुद्धिग्राह्य आत्यन्तिक सुख है (उसको) जिस योग में वह जानता है और जिस योग में स्थित हुआ वह फिर तत्त्व से विचलित नहीं होता ॥ २१ ॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ २२ ॥

यमिति। यं च योगम्। लब्ध्वा। ततः। परमन्यम्। लाभम्। अधिकम्। न मन्यते। यस्मिंश्च योगे। स्थितः सन्। गुरुणा महताऽपि। दुःखेन। न विचाल्यते ॥ २२ ॥

और जिस योग को पाकर उससे अधिक और कोई लाभ नहीं समझता और जिसमें स्थित हुआ योगी बड़े भारी दुःख से भी चलायमान नहीं किया जा सकता ॥ २२ ॥

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तमिति । दुःखानां सांसारिकक्लेशानां यः संयोगस्तस्य वियोगो यस्य तम् । तमुक्त-लक्षणपरमात्मनि मयि क्षेत्रज्ञयोजयितारं योगम् । योगसंज्ञितं योगशब्दवाच्यम् । विद्यात् जानीयात् । इति सार्द्धत्रयाणामेकसंबंधः । यस्मादेवं महाफलो योगस्तस्माद्धेतोः सः । योगः । अनिर्विण्णं निर्वेदरहितं यच्चेतस्तेन । निश्चयेनावश्यतया । योक्तव्योऽभ्यसनीयः ॥ २३ ॥

उस दुःख-संयोग के वियोग को 'योग' नाम वाला जाने । वह योग निश्चय-पूर्वक हर्षित चित्त से किये जाने योग्य है ॥ २३ ॥

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ २४ ॥

संकल्पेति । किंच । संकल्पप्रभवान् । सर्वान्मदितरान्समग्रान् । कामान्मनोरथान् । अशेषतो यथा तन्मूलं न तिष्ठेत्तथा समग्रत्वेन । त्यक्त्वा । मनसा विवेकयुक्तस्वांतेनैव । इंद्रियाणां यो ग्रामः समूहस्तम् । समंततो विनियम्य प्राकृतसर्वविषयेभ्यः प्रत्याहृत्य । योगो योक्तव्य इति पूर्वेणान्वयः ॥ २४ ॥

संकल्प से उत्पन्न होनेवाले सब भोगों को त्यागकर, मन के द्वारा इन्द्रिय-समूह को सब ओर से अच्छी तरह रोककर ॥ २४ ॥

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥ २५ ॥

यदि प्राचीनकर्मसंस्कारेण मनो विचलेत्तर्हि धारणया स्थिरीकुर्यादित्याह । शनैरिति । धृत्या धारणया गृहीता वशीकृता तया । बुद्ध्या । आत्मनि परमात्मनि मय्येव सम्यक् तिष्ठतीति तथोक्तम् । मनः । कृत्वा । शनैः शनैः । उपरमेन्मदितरवस्तुचिंतनाद्विरमेत् । किंचित्किमपि मदितरवस्तु न चिंतयेत् ॥ २५ ॥

धैर्ययुक्त बुद्धि से शनैः शनैः उपरामता को प्राप्त हो और मन को आत्मा में स्थित करके और कुछ भी चिन्तन न करे ॥ २५ ॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥

एवं कृतेऽपि रजःप्रवेशेन यदि मनः प्रचलेत्तर्हि प्रत्याहारेण पुनर्वशीकुर्यादित्याह । यत इति । चंचलम् । अत एव । अस्थिरम् । मनः यतो ध्यातमत्मूर्त्यवयवेतरस्मिन् यत्र वस्तुनि । निश्चरति निर्गच्छेदित्यर्थः । ततस्ततः सकाशात् । एतन्मनः । नियम्य प्रत्याहृत्य आत्मन्यन्तर्यामिणि मय्येव । वशं नयेत् स्थिरं कुर्यात् ॥ २६ ॥

वह चञ्चल और अस्थिर मन जिस जिसमें जाय, उस-उससे हटाकर इसे आत्मा में ही वश (निरुद्ध) करे ॥ २६ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥

एवमभ्यसंतं योगिनं रजोगुणक्षये सति योगसुखं प्राप्नोतीत्याह । प्रशांतेति । शांतमुक्तविधाभ्यासेन निवृत्तं रजो रजोगुणो यस्य तम् अत एव । प्रशांतं मनो यस्य तम् । अकल्मषं निर्दोषम् । ब्रह्मभूतं च । एनम् । योगिनम् । उत्तमं श्रेष्ठतमम् । सुखं मन्मूर्त्तौ स्वमनसः स्थिरीभवनानंदः । उपैति स्वयमेवाप्नोति । हि निश्चितम् ॥ २७ ॥

इस प्रशान्तमन, रजोगुणरहित, निष्पाप और ब्रह्मरूप योगी को निस्संदेह उत्तम सुख मिलता है ॥ २७ ॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥

ततश्च सकृतार्थो भवतीत्याह युजन्निति एवमुक्तप्रकारेण । सदा । आत्मानम् । युंजन्मन्मूर्त्तौ स्थिरीकुर्वन् । विशेषेण गतानि प्रणष्टानि कल्मषाणि प्राक्तनाधुनिकदोषा यस्य सः । योगी । ब्रह्मणः परब्रह्मणो मम संस्पर्शः साक्षात्कारस्तम् । मन्मूर्त्तिसाक्षात्काररूपमित्यर्थः । अत्यंतं निरवधिकातिशयम् । सुखमानन्दम् । सुखेनानायासेन । अश्नुते प्राप्नोति ॥ २८ ॥

(वह) पापरहित योगी इस प्रकार मन को सदा (आत्मा में) लगाता हुआ ब्रह्मानुभवरूप अपरिमित सुख को भोगता है ॥ २८ ॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥

अथ परिपक्वयोगिनां स्थितिभेदान्वदन्नाह चतुर्भिः । सर्वेति । योगेनाक्षरब्रह्मसमाधिना युक्तस्तत्साधर्म्यं प्राप्त आत्मा यस्य सः । सर्वत्र बद्धमुक्तसर्वक्षेत्रज्ञेषु । समं प्रकाशाकृतिजातिभिरछेद्यादिस्वभावैश्च तुल्यं दर्शनं यस्य तथाभूतो योगी । आत्मानं सर्वांतर्यामिणमक्षरब्रह्माख्यं स्वम् । सर्वाणि यानि भूतानि प्राणिनस्तेषु तत्तत्कर्मफलदानाय तिष्ठतीति तथोक्तस्तम् । आत्मन्यक्षरब्रह्मस्वरूपे स्वात्मनि । सर्वभूतानि च । ईक्षते पश्यति ॥ २९ ॥

(वह) योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदृष्टिसम्पन्न पुरुष सब भूतों में आत्मा को और सब भूतों को आत्मा में स्थित देखता है ॥ २९ ॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तत उत्कृष्टस्थितिमंतं तमाह । य इति । यः प्रत्यक्षमत्स्वरूपे साव्यसमाधिर्योगी । सर्वत्र सर्वेषु । मच्छरीरभूतेषु सर्वज्ञाल्पज्ञक्षेत्रज्ञमात्रेषु नियंतृतया स्थितमित्यर्थः । मां प्रत्यक्षपरमात्मानम् । पश्यति । मयि मदाधारे स्थितम् । सर्वं चिदचिद्वस्तुमात्रं च । पश्यति । तस्य तथाविधस्य योगिनः । अहं सर्वजनमनोनयनानंदकराकृतिः साक्षादहम् । न प्रणश्यामि दृष्टीगोचरो न भवामि । स च योगी । मे मम । न प्रणश्यति परोक्षो न भवति ॥ ३० ॥

जो सर्वत्र मुझको और सबको मुझमें देखता है उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता ॥ ३० ॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा. वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥

ततोऽप्युत्कृष्टस्थितिमंतं तमाह । सर्वभूतेति । एकत्वं यो मया प्रत्यक्षतया प्राप्तः स एव सर्वेषामवतारादीनां कारणमस्तीत्येकभावम् । आस्थित आश्रितः । यः सर्वभूतेषु बद्धमुक्तक्षेत्रज्ञमात्रेषु स्थितमंतर्यामितयाऽवस्थितम् । मां प्रत्यक्षपरमात्मानमेव । सर्वथा कायवाङ्मनोभिः । भजति सेवते । सः योगी । वर्त्तमानो देहधारीतरजनवदिह वर्त्तमानोऽपि मयि प्रकृतिपराक्षरधाममध्यस्थितास्मत्समीपे वर्त्तते ॥ ३१ ॥

जो योगी एकत्वभाव में स्थित होकर सब भूत प्राणियों में स्थित मुझको भजता है, वह सब प्रकार से बर्तता हुआ भी मुझमें ही वर्तता है ॥ ३१ ॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥

एतेषां मध्ये यः सर्वभूतानुकंपी स श्रेष्ठ इत्याह । आत्मेति । हे अर्जुन आत्मनः स्वस्यौपम्येन तुल्यतया । यो मद्भक्तः । सुखं वा । यदि वा । दुःखम् । सर्वत्र सर्वप्राणिषु समं सदृशम् । पश्यति । यथा मम सुखं प्रियं दुःखमप्रियं तथा सर्वेषामपि भवतीति विबुध्य सर्वेषां सुखमेव करोति न कस्यापि दुःखमित्यर्थः । सकरुणार्द्रहृदयः । योगी । परमः श्रेष्ठः । मतः । ममाभिमत इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

अर्जुन ! जो योगी आत्मा की उपमा से सर्वत्र सुख अथवा दुःख को (अपने ही सदृश) समान देखता है वह योगी परम (योग की अन्तिम सीमा को प्राप्त) माना गया है ॥ ३२ ॥

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥ ३३ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इत्थंभूतयोगस्य दुःसाध्यत्वं मन्वानोऽर्जुनः पृच्छति । य इति । हे मधुसूदन । साम्येन लयविक्षेपकारणं मनो नियम्य केवलात्माकारावस्थानेन । यः । अयम् । योगः । त्वया । प्रोक्तः । एतस्य योगस्य । स्थिरां दीर्घकालिकां स्थितीम् । चंचलत्वान्मनसश्चपलत्वाद्धेतोः । न पश्यामि ॥ ३३ ॥

अर्जुन ने कहा—मधुसूदन ! यह जो योग समतारूप से आपके द्वारा कहा गया है, मैं (अपने मन की) चञ्चलता के कारण इस योग की स्थिर स्थिति नहीं देख रहा हूँ ॥ ३३ ॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि वलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३४ ॥

मनसश्चंचलत्वं स्पष्टयति । चंचलमिति । हे कृष्ण चंचलं स्वभावेनैव चपलम् । प्रमाथि प्रमथनशीलम् । देहेंद्रियक्षोभकृदित्यर्थः । बलवद्विचारेणापि जेतुमशक्यम् । दृढं विषयवासनानुबद्धतया दुर्भेदं च । मनोऽस्ति हि । अतो हेतोः अहम् । तस्य मनसः । निग्रहं निरोधम् । वायोरिवाकाशे दोधूयमानपवनस्य निग्रहं यथा । तथा । सुदुष्करं सुतरां कर्तुमशक्यम् । मन्ये ॥ ३४ ॥

क्योंकि श्रीकृष्ण ! यह मन वड़ा चञ्चल , प्रथमनशील, दृढ़ और वलवान् है, उसका रोकना मैं वायु को रोकने के समान अत्यन्त कठिन मानता हूँ ॥३४॥

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥

तदेवमर्जुनोक्तमनश्चंचलत्वादिकमंगीकृत्य निग्रहोपायं श्रीभगवानाह । असंशयमिति । हे महाबाहो, मनः । चलं चंचलस्वभावमस्ति । अत एव । दुःखेन नितरां ग्रहीतुं मन्मूर्त्तौ स्थिरीकर्तुमशक्यमस्ति । असंशयमेतत्त्वद्वचनं सत्यमस्ति तथापीति तु शब्दार्थः । हे कौंतेय । अभ्यासेन मायिकविषयचिंतनं विहाय मन्माहात्म्यज्ञानपूर्वकमानखशिखमन्मूर्त्तिचिंतनस्य पुनः पुनरावृत्त्या । वैराग्येण प्राकृतवस्तुमात्रे दोषदृष्ट्या च । गृह्यते मद्भक्तैरेवंभूतमपि तद्वशीक्रियते । आभ्यामुपायाभ्यां लयविक्षेपयोः प्रतिबंधध्येयमन्मूर्त्याकारेण मद्भक्तस्य मनोऽवतिष्ठतीत्यर्थः । तदुक्तं योगशास्त्रे । 'मनसो वृत्तिशून्यस्य ब्रह्माकारतया स्थितिः । या संप्रज्ञातनामासौ समाधिरभिधीयते' ॥ ३५ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—अर्जुन ! निस्सन्देह मन चञ्चल और दुर्निग्रह है; परन्तु कौन्तेय ! अभ्यास और वैराग्य से (यह) वश में किया जाता है ॥ ३५ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३६ ॥

एतदेव व्यनक्ति । असंयत इति । असंयतोऽभ्यासवैराग्याभ्यामवशीभूत आत्मा मनो यस्य तेन जनेन । योगः । दुष्प्रापः प्राप्तुमशक्यः । उपायतोऽभ्यासवैराग्याख्यसाधनाभ्याम् । यतता प्रयासं कुर्वता । वश्य आत्मा मनो यस्य तथोक्तेन मद्भक्तेन तु । अवाप्तुं शक्यो योगः प्राप्तुं शक्योऽस्ति । इत्येवंभूता । मे मम । मतिः । इत्यहं वेद्मीत्यर्थः ॥ ३६ ॥

मन को वश में न करने वाले पुरुष के द्वारा (इस) योग का पाना बहुत कठिन है; परन्तु स्वाधीन मनवाले प्रयत्नशील पुरुष के द्वारा उपाय करने पर इसका पाना सम्भव है, यह मेरा मत है ॥ ३६ ॥

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥ ३७ ॥

अभ्यासवैराग्याभावेनाप्राप्तयथार्थज्ञानो योगी कां गतिं प्राप्नोतीत्यर्जुनः पृच्छति । अयतिरिति । हे कृष्ण । श्रद्धयाऽनेनैव मे मोक्षो भविष्यतीति विश्वासेन । उपेतो योगे प्रवृत्तः । अयतिः । योगे प्रवृत्तोऽपि तत्साधनप्रयासे शिथिलः । अत एव । योगात् । चलितं विषयासक्ततया भ्रष्टं मानसं यस्य तथाभूतो योगी । योगस्य संसिद्धिं फलरूपस्वत्साक्षात्कारम् । अप्राप्य । कां कीदृशीम् । गतिम् । गच्छति प्राप्नोति ॥ ३७ ॥

अर्जुन ने कहा—श्रीकृष्ण ! श्रद्धापूर्वक योगसाधन में लगा हुआ साधक प्रयत्न की कमी के कारण योग की सिद्धि को न पाकर योग से विचलित मनवाला होकर किस गति को प्राप्त होता है ? ॥ ३७ ॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥

एतदेव विवृणोति । कच्चिदिति । हे महाबाहो उभाभ्यां मायिकामायिकाभ्यां भ्रष्टः साधनवैपरीत्येन चलितः । कृतस्याप्यल्पशुभकर्मणा फलानुसंधानरहितत्वान्नैहिकस्वर्गादिसुखप्राप्तिमंतरा तद्विच्छिन्नमोक्षस्यापि प्राप्तिरित्यर्थः । अत एव । अप्रतिष्ठः कस्याप्याश्रयरहितो योगी । ब्रह्मणः पथि परब्रह्मणस्तव प्राप्त्युपायमार्गे । विमूढः सन् । छिन्नं महाभ्राद्विश्लिष्टं यदभ्रं तदिव । न नश्यति कच्चित् ॥ ३८ ॥

महाबाहो ! वह ब्रह्म के मार्ग में भूला हुआ आश्रयरहित पुरुष क्या फटे हुए बादल की भाँति दोनों ओर से भ्रष्ट होकर नष्ट तो नहीं हो जाता ? ॥ ३८ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

एतदिति । हे कृष्ण । मे मम । एतदेनं संशयम् । अशेषतः समग्रत्वेन छेत्तुमपनेतुम् । त्वम् । अर्हसि । कुत इत्यपेक्षायामाह । त्वदिति । अस्य । संशयस्य । छेत्ता निवर्त्तकः । त्वदन्यस्त्वत्तोऽपरः कोऽपि । न ह्युपपद्यते नास्त्येव ॥ ३९ ॥

श्रीकृष्ण ! मेरे इस संशय को पूर्णरूप से काटने के योग्य आप ही हैं । आपके बिना इस संशय को काटने वाला दूसरा मिल ही नहीं सकता ॥ ३९ ॥

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥

अथार्जुनसंशयं निवारयन् श्रीभगवानाह । पार्थेति । हे तात ममानुकंप्य । हे पार्थ । तस्य योगभ्रष्टस्य इह लोके । विनाशो मोक्षमार्गाच्चलनम् । न विद्यते । न भवति । अमुत्र परलोकेऽपि । विनाशो निरयपातः । नैव नैवास्ति । हि यस्मात् । कल्याणं स्वस्य मोक्षसाधनं करोतीति तथाभूतः । कश्चिज्जनः दुर्गतिम् । न गच्छति नाप्नोति ॥ ४० ॥

श्रीभगवान् ने कहा—अर्जुन ! उस पुरुष का न तो इस लोक में और न परलोक में ही विनाश होता है; क्योंकि प्यारे ! कल्याण (योग साधन) करने वाला कभी दुर्गति को नहीं प्राप्त होता ॥ ४० ॥

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥

ननु तर्हि स तावत्क तिष्ठति कदा परां गतिं च प्राप्नोतीत्याह पंचभिः । प्राप्येति । योगभ्रष्टः स च योगी । पुण्यकृतां लोकान्पुण्यशालिभिः प्राप्यास्तानित्यर्थः । प्राप्य तेषु च । शाश्वतीः समाः वैराग्योदयपर्यंतमित्यर्थः । उषित्वा । शुचीनां शुद्धान्तःकरणानाम् । श्रीमतां भगवद्भक्तानुकूलसमृद्धिवतां जनानाम् । गेहे अभिजायते उत्पन्नो भवति ॥ ४१ ॥

वह योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यकर्मा पुरुषों को प्राप्त होने योग्य लोकों को प्राप्त होकर, वहाँ बहुत वर्षों तक रह कर फिर शुद्ध और श्रीमानों के घर में जन्म लेता है ॥ ४१ ॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् । ४२ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथवेति । अथ वासना च तीक्ष्णसुकृतवांश्चेत्तदा तु । योगिनां प्रत्यक्षमवद्योगवतामेव धीमतां तस्मिन्नेवानन्यनिष्ठानां जनानां कुले । भवत्युत्पन्नो भवति । ईदृशमेतादृशम् । यत् । जन्म । एतद्धि एतदेव । लोके मनुष्यलोके । दुर्लभतरं दुष्प्राप्यं भवति ॥ ४२ ॥

अथवा बुद्धिमान् योगियों के कुल में उत्पन्न होता है; परन्तु इस प्रकार का जन्म इस संसार में निस्सन्देह बहुत ही दुर्लभ है ॥ ४२ ॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ ४३ ॥

तत्रेति । हे कुरुनंदन तत्र जन्मनि । पौर्वदैहिकं पूर्वजन्माभ्यस्तं तं संस्कारानुगुणम् । बुद्धिसंयोगं सत्साधनसमुदायम् । लभते स चाप्नोति । ततोऽनंतरम् । भूयः । संसिद्धावात्यन्तिककल्याणायेत्यर्थः । यतते प्रयासं च करोति ॥ ४३ ॥

वहाँ वह उस पूर्व के देह में अभ्यास किये हुए बुद्धि संयोग को (सहज ही) पा जाता है और अर्जुन ! उससे फिर योग की पूर्ण सिद्धि के लिये प्रयत्न करता है ॥ ४३ ॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥

तत्र हेतुमाह । पूर्वेति । अवशो देहदैहिकपरवशोऽपि । स योगभ्रष्टः । तेन पूर्वाभ्यासेन । एव ह्रियते मोक्षसाधनं प्रतिनीयत इत्यर्थः । योगम् । जिज्ञासुरपि केवलतद्ज्ञातुंकामोऽपि । शब्दब्रह्मवेदम् । अतिवर्त्तते तदुक्तफलान्यतिक्रम्य वर्त्तते । महाफलसाधनभूतां श्रीहर्यैकांतिकीं भक्तिं करोतीत्यर्थः ॥ ४४ ॥

वह पुरुष अवश होने पर भी उस पूर्वकृत अभ्यास के द्वारा निस्सन्देह (उसी योग की ओर) खींचा जाता है । (वही नहीं) योग का जिज्ञासु भी शब्द ब्रह्म (प्रकृति) को लाँघ जाता है ॥ ४४ ॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

प्रयत्नादिति । प्रयत्नाद्योगाभ्यासप्रयासमालंब्य । यतमानो यत्नं कुर्वाणः । अत एव । संशुद्धकिल्विषो विधूतपापः । अत एव । अनेकजन्मभिः संसिद्धः सिद्धभक्तियोगः । योगी तु ततः साक्षान्मत्प्राप्त्यनंतरम् । परां सर्वोत्तमाम् । गतिं निरंतरां मत्सेवारूपाम् । याति प्राप्नोति ॥ ४५ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनेक जन्मों के अभ्यास से संसिद्ध और संपूर्ण पापों से विशुद्ध हुआ योगी (इस जन्म में) प्रयत्नपूर्वक साधन करके पुनः परमगति को प्राप्त हो जाता है ॥ ४५ ॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ४६ ॥

एतादृशस्य सर्वेभ्यः श्रेष्ठत्वं दर्शयन्नाह । तपस्विभ्य इति । योगी प्रत्यक्षे मय्यनन्य-निष्ठावान् स च । तपस्विभ्यो जनेभ्यः । अधिकः श्रेष्ठः । मतः । ज्ञानिभ्यः शास्त्रज्ञेभ्योऽपि । अधिको मतः । स च योगी । कर्मिभ्यः कर्मकांडनिष्ठेभ्यश्च । अधिको मतः । तस्माद्धेतोः हे । अर्जुन । त्वम् । योगी । भव ॥ ४६ ॥

योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है, ज्ञानियों से भी श्रेष्ठ है और कर्मियों से भी श्रेष्ठ है, इसलिये अर्जुन ! तू योगी हो ॥ ४६ ॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ४७ ॥

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

स्वाभिमतं योगिनमाह । योगिनामिति । सर्वेषामपि । योगिनां मध्ये । यो योगी । श्रद्धावान्सन् । मद्गतेन सर्वाधिपतिं प्रत्यक्षं मां प्राप्तेन । अखंडमत्स्मृतियुक्तेनेत्यर्थः । अंतरात्मना स्वमनसा । माम् । भजते सेवते । स योगी । मे मया । युक्ततमोऽतिश्रेष्ठतमः । मतः ॥ ४७ ॥

इति श्रीभगवद्गीताटीकायामन्वयार्थदीपिकायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

सब योगियों से भी जो श्रद्धावान् भक्त मुझमें लगे हुए मन से मुझको भजता है, वह मेरे मत में श्रेष्ठतम है ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ सप्तमोऽध्यायः

सप्तमे परमहंसविज्ञानयोग ईरितः।
हरेर्माहात्म्यज्ञानादिवार्त्ता वहुविधोदिता ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥

प्रथमं स्वज्ञानं वदिष्यन् श्रीभगवानाह। मयीति। हे पार्थ। मयि प्रत्यक्षपरमेश्वरे आसक्तं मनो यस्य। अत एव। अहमेवाश्रयः आधारो यस्य तथोक्तस्त्वम्। योगं मदुक्तोपायम्। युञ्जन्कुर्वन्सन्। समग्रं विभूत्यादिसहितम्। असंशयं यथा तथा। यथा येन ज्ञानेन। ज्ञास्यसि। तज्ज्ञानम्। शृणु ॥ १ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—पृथापुत्र (अर्जुन)! मुझमें आसक्त मन वाला, मेरे ही आश्रित हुआ, मेरी प्राप्ति के साधनरूप योग में लगा हुआ तू बिना सन्देह के जैसे सम्पूर्णता से मुझे जानेगा, उसे सुन ॥ १ ॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

ज्ञानमिति। अहम्। इदमेतरम्। सविज्ञानम्। ज्ञानं मत्स्वरूपस्य वेदनम्। ते तुभ्यम्। अशेषतो निःशेषतया। वक्ष्यामि। यत्। ज्ञात्वा। इह मत्स्वरूपे। भूयः पुनः। अन्यदपरम्। ज्ञातव्यम्। न। अवशिष्यते ॥ २ ॥

मैं तुझको यह ज्ञान विज्ञान के सहित पूर्णरूप से बतलाऊँगा, जिसको जान कर फिर यहाँ और जानने योग्य (कुछ भी) शेष नहीं बचेगा ॥ २ ॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥

तस्य दुर्लभत्वमाह। मनुष्याणामिति। मनुष्याणां शास्त्राधिकारयोग्यजनानाम्। सहस्रेषु मध्ये कश्चिज्जनः। सिद्धये स्वमोक्षाय यतति प्रयासं करोति। यततामपि सहस्राणां मध्ये। कश्चिन्मां प्रत्यक्षं प्राप्य प्रकृतिबंधनाद्विमोचनरूपसिद्धिं प्राप्नोति। तथाविधानां

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिद्धानां सहस्रेषु । कश्चित् । तत्त्वतो याथातथ्येन । मां सर्वाधीशम् । वेत्ति स्वरूपस्वभाव-गुणविभूत्यादिभिर्जानाति ॥ ३ ॥

सहस्रों मनुष्यों में कोई एक ही सिद्धिपर्यन्त यत्न करता है और सिद्धिपर्यन्त यत्न करने वाले पुरुषों में भी कोई एक ही मुझे तत्त्व से जानता है ॥ ३ ॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

इदानीं स्वज्ञानवद्द्विविधां प्रकृतिं वदति द्वाभ्याम् । भूमिरिति । भूमिः पृथ्वी । आपो जलानि । अनलोऽग्निः । वायुः । खं गगनम् । मनः । बुद्धिः । अहंकारश्च । इत्येवं प्रकारेण । अष्टधा । भिन्ना भेदं प्राप्ता । इयं बद्धजीवानां निवासरूपा मे मदीया । प्रकृति-र्मायाऽस्तीत्यर्थः ॥ ४ ॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—यह आठ प्रकार की प्रकृति मेरी है ॥ ४ ॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

अपरेति । हे महाबाहो । इयं या प्रोक्ता सा । अपरा जडत्वेन कनिष्ठाऽस्ति । इतो जडप्रकृतेस्तु । अन्यां स्वरूपस्वभावाभ्यां विलक्षणाम् । जीवभूताम् । अक्षररूपाम् । परां श्रेष्ठाम् । मे मदीयाम् । प्रकृतिम् । विद्धि । यया अक्षररूपप्रकृत्या । इदं चेतनाचेतनात्मकम् । जगद्विश्वम् । धार्यते । अक्षरब्रह्मवाचको जीवशब्दः श्रुतिषु प्रसिद्ध एवास्ति ॥ ५ ॥

यह अपरा है । अब इससे दूसरी हे महाबाहो अर्जुन ! तू मेरी जीवरूप परा प्रकृति को जान, जिससे यह जगत् धारण किया जाता है ॥ ५ ॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

जगत्कारणयोः प्रकृतिपुरुषयोर्जगतश्चाहमेव परमं कारणमित्याह द्वाभ्याम् । एतदिति । एतौ प्रकृत्यक्षरपुरुषौ योनी कारणभूतौ येषां तानि । सर्वाणि । भूतानि महदादिस्थावरांत-प्राणिनः संति । कृत्स्नस्य प्रकृतिद्वयसहितस्य समग्रस्य । जगतः प्रभवः प्रादुर्भावस्थित्योर्हेतुः । यथा । प्रलयः संहर्त्ता च । अहमस्मि । इति । उपधारय त्वं बुध्यस्व ॥ ६ ॥

ऐसा जान कि सम्पूर्ण भूतप्राणी इन्हीं दोनों योनियों वाले हैं (मेरी ये दो प्रकृति ही सब का कारण हैं) अतः मैं इस समूचे जगत् की उत्पत्ति और प्रलय का स्थान हूँ ॥ ६ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

मत्त इति । हे धनंजय । मत्तः सकाशात् । परतरं श्रेष्ठम् । अन्यत् । किंचित्किमपि । नास्ति । मणिगणाः सूत्रे । इव । सर्वं चेतनाचेतनम् । इदं जगत् । मयि । प्रोतमनुस्यूतम् । मम शरीरमित्यर्थः ॥ ७ ॥

अर्जुन ! मुझ से श्रेष्ठतर दूसरा कुछ भी नहीं है। सूत्र में मणियों के समान यह सब मुझमें पिरोया हुआ है ॥ ७ ॥

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥

इदानीं सर्वेषां स्वशरीरत्वं दर्शयन्विभूतिमाह चतुर्भिः । रस इति । हे कौंतेय । अप्सु नीरेषु । रसः । शशिसूर्ययोः । प्रभा कांतिः । सर्ववेदेषु । प्रणव ॐकारः । खे व्योम्नि । शब्दः । नृषु । पौरुषं पुरुषप्रयत्नः । अहम् । अस्मि । एतद्रसादिकं मम विभूतिरस्तीत्यर्थः ॥ ८ ॥

अर्जुन ! जलों में मैं रस, चन्द्रमा और सूर्य में प्रभा, सब वेदों में ओंकार, आकाश में शब्द और पुरुषों में पुरुषत्व हूँ ॥ ८ ॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

पुण्य इति । पृथिव्याम् । पुण्यः पवित्रः गंधः । विभावसावग्नौ । तेजश्च । अहमस्मि । सर्वभूतेषु । जीवनम् । सर्वेषामायुरित्यर्थः । तपस्विषु । तपश्च अहमस्मि । गंधादिर्मम विभूतिरस्तीत्यर्थः ॥ ९ ॥

पृथ्वी में पवित्र गन्ध, अग्नि में तेज, सब प्राणियों में जीवन शक्ति और तपस्वियों में तप मैं हूँ ॥ ९ ॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥

बीजमिति । हे पार्थ । सर्वभूतानाम् । सनातनमविनाशि । बीजं कारणम् । माम् । विद्धि । नात्र विभूतिः । बुद्धिमताम् । बुद्धिर्विवेकः तेजस्विनाम् । तेजश्च । अहम् अस्मि । मद्विभूतिरित्यर्थः ॥ १० ॥

अर्जुन ! समस्त प्राणियों का सनातन बीज तू मुझको जान ! बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज मैं हूँ ॥ १० ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ।। ११ ।।

बलमिति । हे भरतर्षभ । बलवताम् । कामेषु विषयेषु यो रागः प्रीतिस्तेन विवर्जितम् । बलम् । भूतेषु प्राणिषु । धर्माविरुद्धः अधर्मरहितः । कामो धर्मपालनस्य मोक्षस्य वाऽभिलाषश्च । अहमस्मि ॥ ११ ॥

भरतश्रेष्ठ ! बलवानों का कामराग से सर्वथा रहित बल और प्राणियों में धर्म से अविरुद्ध (धर्मसम्मत) काम मैं हूँ ।। ११ ।।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ।। १२ ।।

किंच । य इति । ये । सात्त्विकाः । ये च राजसाः । ये तामसाश्च । भावा इंद्रियदेवतेंद्रियतन्मात्राकाशादयो देवमनुष्यादयो वा संति । तान्समग्रान् । मत्त एव जातान् । इति विद्धि । एव हि । ते भावाः मयि मच्छरीरत्वान्मदधीनतया स्थिताः । अहं तु । तेषु न तदधीनो न भवामि ।। १२ ॥

और जो भी ये सात्त्विक, राजस तथा तामस भाव हैं, वे मुझसे ही उत्पन्न हैं, तू उनको ऐसा समझ । परन्तु मैं उनमें नहीं हूँ, वे मुझमें हैं ।। १२ ।।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ।। १३ ।।

ननु सर्वजन एतादृशं त्वां कथं न जानाति तत्राह । त्रिभिरिति । एभिः पूर्वोक्तैः । गुणमयैः । त्रिभिः । भावैः । मोहितम् । सर्वम् । इदं देवमनुष्यादिकम् । जगत् । एभ्यो भावेभ्यः । परं स्वरूपस्वभावगुणविभूत्यादिभिरुत्कृष्टम् । अव्ययमविनाशिनं च । माम् । नाभिजानाति न वेत्ति ॥ १३ ॥

इन गुणमय तीन प्रकार के पदार्थों से मोहित हुआ यह सब जगत् इनसे श्रेष्ठतर मुझ अविनाशी को नहीं जानता है ।। १३ ।।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।। १४ ।।

यया सर्वं मोहितं सा माया कथं निवर्त्तेत इत्यत्राह । दैवीति । एषा सर्वमोहिनी । अत एव दुरत्यया मच्छरणमंतरेतरसाधनेन दुरतिक्रमा हि । दैवी देवस्य मम शक्तिरूपा-गुणमयी रजस्तमःसत्त्वात्मिका मम मायाऽस्ति । अत एव । मां प्रत्यक्षमेव । ये जनाः । प्रपद्यंते । ते । एताम् । मायाम् । तरंति ॥ १४ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह मेरी गुणमयी दैवी माया निःसन्देह दुस्तर है (पर) जो एकमात्र मेरी शरण ग्रहण कर लेते हैं, वे इस माया से तर जाते हैं ॥ १४ ॥

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ १५ ॥

एवं चेत् सर्वजनास्तव शरणं कुतो नाप्नुवंतीत्यत्राह नेति । दुष्कृतिनः पापिनः पापतारतम्येन चतुर्विधास्त इत्यर्थः । मां प्रत्यक्षम् । न प्रपद्यंते । तानाह । मूढा विपरितज्ञानाः नराधमा मदुपासनवर्जिताः । मायया कूटयुक्तिभिः । अपहृतं ज्ञानं मद्विषयवेदनं येषां ते । आसुरम् । भावम् । आश्रिताः मत्स्वरूपं ज्ञात्वाऽपि मया वैरं कुर्वंत इत्यर्थः ॥ १५ ॥

मूढ, नराधम, माया से हरे गये ज्ञानवाले और आसुरी प्रकृति का आश्रय लिये हुए पापाचारी मनुष्य मेरी शरण ग्रहण नहीं करते ॥ १५ ॥

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १६ ॥

चतुर्विधा इति । हे अर्जुन सुकृतिनः । चतुर्विधाः । जनाः । माम् । भजंते । तानाह । हे भरतर्षभ । आर्त्तो दुःखी अर्थार्थी ऐश्वर्याभिलाषी । जिज्ञासुर्निरवयवाक्षरसुखाभिलाषी । ज्ञानी सर्वहेतोर्मम यथार्थज्ञानाभिलाषी च ॥ १६ ॥

भरतश्रेष्ठ (अर्जुन) ! आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी—ये चार प्रकार के पुण्यकर्मा मनुष्य मुझ को भजते हैं ॥ १६ ॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ १७ ॥

तत्र ज्ञानी श्रेष्ठ इत्याह । तेषामिति । तेषां चतुर्विधानां मध्ये ज्ञानी । विशिष्यते श्रेष्ठो अस्ति कस्मिन्मय्येव भक्तिर्यस्य सः । नित्ययुक्तः शश्वन्मत्प्रसंगवांश्च अत एव । किंच । ज्ञानिनः । अहम् । अत्यर्थम् । प्रियः प्रेष्ठो हि स ज्ञानी मम । प्रियश्च ॥ १७ ॥

उनमें नित्ययुक्त और एक (मुझ में) भक्तिवाला ज्ञानी श्रेष्ठ है; क्योंकि मैं उसका अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मेरा प्रिय है ॥ १७ ॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ १८ ॥

उदारा इति । एते पूर्वोक्ताः सर्वे उदारा एव । सह्यं सर्वस्वदायिन इत्यर्थः । ज्ञानी तु । आत्मा मम स्वरूपमेवेति । मे मतं मन्निश्चयः तस्य हृद्यहं साक्षात्स्थितोऽऽस्मीत्यर्थः । स ज्ञानी युक्तो मयि गाढनिबद्ध आत्मा मनो यस्य सः । अतः । अनुत्तमां सर्वोत्तमाम् । गतिं गतिरूपम् । माम् । एव । आस्थित आश्रितः । हि ॥ १८ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ये सब ही उदार हैं; परन्तु मेरा मत है कि ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है; क्योंकि वह युक्तात्मा मुझ सर्वोत्तम प्राप्य वस्तु में ही स्थित है ।। १८ ।।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ।। १९ ।।

बहूनाममिति । बहूनाम् । जन्मनाम् । अंतेऽवसाने । सर्वं पितृपुत्रधनादिसमग्रम् । वासुदेव एवास्ति । इति । ज्ञानवान्सन् । यः । मां प्रत्यक्षम् । प्रपद्यते भजते । सः । महति सर्वोत्कृष्टे मय्येवात्मा मनो यस्य सः । अत एव । सुदुर्लभः ज्ञातव्य इति शेषः ॥ १९ ॥

बहुत से जन्मों के अन्त में ज्ञानवान् 'यह सब वासुदेव ही है', इस भाव से मेरी शरण ग्रहण करता है । वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है ।। १९ ।।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ।। २० ।।

इदानीं सुदुर्लभात्तस्मान्निकृष्टं जनं वदन्नाह चतुर्भिः कामैरिति । स्वया प्रकृत्याऽनादि-वासनारूपस्वस्वभावेन । नियता युक्ताः । अतः । तैस्तैः स्वप्रकृत्यनुकूलैर्गुणमयैः । स्वर्गराज्य-धनादिमनोरथैः हृतं ज्ञानं मत्स्वरूपवेदनं येषां ते जनाः संति । ते । अन्यद्देवतामंदिरद्देवान् । तं तं नियमं तत्तदुपासनोपयोगिनियमान् । आस्थायाश्रित्य प्रपद्यंते तत्तत्कामप्राप्तये उपासते ।। २० ॥

उन-उन भोग कामनाओं से हरे गये ज्ञान वाले अपनी प्रकृति के वश होकर अन्य देवताओं की उन-उन नियमों में स्थित होकर शरण ग्रहण करते हैं ।। २० ।।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ।। २१ ।।

य इति । यः यः । भक्तः । यां यां तनुं मच्छरीरभूतान् यान् यान्देवान् । श्रद्धया अर्चितुं पूजयितुम् । इच्छति । तस्य तस्य भक्तस्य । अचलां निर्विघ्नाम् । तां श्रद्धाम् । अहं तत्तद्देवांतर्याम्यहमेव । विदधामि प्रेरयामि ॥ २१ ॥

जो-जो भक्त जिस-जिस तनु (देवता रूप मेरे शरीर) को श्रद्धा के साथ पूजना चाहता है, उस-उसकी उस श्रद्धा को मैं ही अचल-स्थिर कर देता हूँ ।।२१।।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ।। २२ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स इति । स मदितरदेवभक्तः । तया । श्रद्धया । युक्तः सन् । तस्य देवस्य । आराधनम् । इह करोति । ततस्तद्देवात्सकाशात् । मया । एव । विहितान् हि तान् । तान्स्वेप्सितान् । कामान्स्वर्गादीन् । हि निश्चितम् । लभते ॥ २२ ॥

वह (भक्त) उस श्रद्धा से युक्त होकर उस (देवतारूप भगवान् के शरीर) की आराधना करता है और उससे उन भोगों को प्राप्त करता हैं, जो मेरे ही द्वारा नियत किये हुए हैं ॥ २२ ॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ २३ ॥

अंतवदिति । अल्पमेधसामंतवद्भोगासक्तत्वादल्पबुद्धीनाम् । तेषां मदितरदेवोपासकानाम् । तत्पूर्वोक्तं तत्फलं तु अंतवद्विनाशि भवति । कुतः । देवयजो ब्रह्मादियाजिनः । देवान् । यांति । मद्भक्ताः । मामपि मामेव यांति ॥ २३ ॥

परन्तु उन अन्य बुद्धि वालों का वह फल अन्तवाला होता है । देवताओं की पूजा करने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मुझको ही पाते हैं ॥ २३ ॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यंते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥

अज्ञास्तु मां प्राकृतमनुष्यवज्जानंतीत्याह । अव्यक्तमिति । मम । अनुत्तमं सर्वोत्तमम् । अव्ययमविनाशिनम् । परं क्षराक्षरेभ्य उत्तमं च । भावं महिमानम् अजानंतः । अबुद्धयः सद्बुद्धिहीना जनाः । अव्यक्तं परोक्षम् । माम् । व्यक्तिमापन्नं कर्म तंत्रवजन्म प्राप्य प्रत्यक्षतां प्राप्तम् । मन्यंते । अतो मां नोपासते इति भावः ॥ २४ ॥

बुद्धिहीन लोग मेरे सर्वोत्तम, अविनाशी परमभाव को न जानकर ऐसा मानते हैं कि (यह पहले) अप्रकट था, अब प्रकट हुआ है ॥ २४ ॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ २५ ॥

नेति । योगमायया मनुष्यचेष्टया समावृत आच्छन्नः । अतः । अहम् । सर्वस्य लोकस्य । प्रकाशः प्रकटो नास्मि । मूढो विपरीतज्ञानः । अयम् । लोकः । अजम् । अव्ययम् । माम् । नाभिजानाति । भक्ता एव जानंतीति भावः ॥ २५ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

योग माया से ढका हुआ मैं सब के लिये प्रत्यक्ष नहीं हूँ। (इसी से) यह मूढ जगत् मुझ अजन्मा और अविनाशी को नहीं जानता है ॥ २५ ॥

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ २६ ॥

इदानीं स्वस्य सर्वज्ञत्वमाह। वेदेति। हे अर्जुन। अहम्। समतीतानि। भविष्याणि च। भूतानि स्थिरचरप्राणिनः। वेद जानामि। मां तु। कश्चन प्राणी। न। वेद न वेत्ति ॥ २६ ॥

अर्जुन! मैं बीते हुए, वर्तमान और भविष्य में होने वाले सब भूतों को जानता हूँ; पर मुझ को कोई नहीं जानता ॥ २६ ॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥ २७ ॥

इच्छेति। हे भारत। हे परंतप। इच्छाद्वेषसमुत्थेन। द्वंद्वमोहेन लौकिकसुखदुःखाद्यासक्तिरूपाविवेकेन। सर्गेऽस्मिन्संसारे। सर्वभूतानि। संमोहम्। यांति ॥ २७ ॥

अर्जुन! परन्तप! जन्मकाल में सभी भूतप्राणी इच्छा और द्वेष से उत्पन्न द्वन्द्वरूप मोह से सम्मोहित हो जाते हैं ॥ २७ ॥

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ २८ ॥

इदानीं ये स्वं भजंति तानाह। येषामिति। पुण्यकर्मणां सत्संगेन सधर्मभक्तिं कुर्वतां येषां जनानां पापम् अंतगतं प्रणष्टम्। ते जनास्तु। द्वंद्वमोहनिर्मुक्ताः। दृढव्रताश्च संतः। मां प्रत्यक्षं भजंते ॥ २८ ॥

परन्तु जिन पुण्यकर्मा भक्तों का पाप नष्ट हो गया है, वे द्वन्द्व मोह से छूटे हुए दृढव्रती होकर मुझको भजते हैं ॥ २८ ॥

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥ २९ ॥

जरेति। जरा च मरणं च तयोर्मोक्षाय। ये जनाः। माम्। आश्रित्य। यतंति भजंते। ते जनाः तत्सर्वाधारम्। ब्रह्म। कृत्स्नं समग्रम्। अध्यात्मम्। अखिलम्। कर्म च। विदुर्जानंति ॥ २९ ॥

जो जरा-मरण से छूटने के लिये मेरा आश्रय लेकर यत्न करते हैं, वे उस ब्रह्म को, सम्पूर्ण अध्यात्म को और समस्त कर्मों को जान लेते हैं ॥ २९ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ ३० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम
सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

साधिभूतेति। ये जनाः। अधिभूतेनाधिदैवेन च सहितम्। अधियज्ञेन सहितं च। माम्। तत्तच्छरीरिणमित्यर्थः। विदुः। युक्तं स्वप्राप्त्ये संलग्नं चेतो येषां ते। ते जनाः। प्रयाणकाले मृत्युसमयेऽपि। माम्। विदुः। ज्ञात्वा मां प्राप्नुवंतीति ॥ ३० ॥

इति श्रीभगवद्गीताटीकायामन्वयार्थदीपिकायां सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

जो मुझ को अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ के सहित जानते हैं, वे युक्तचेता पुरुष मरणकाल में भी मुझ को जानते हैं ॥ ३० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथाष्टमोऽध्यायः

ज्ञेयस्योक्त्या ब्रह्मपरब्रह्माप्तिसाधनाध्वनोः ।
अष्टमे त्वक्षरपरब्रह्मयोगः समीरितः ॥ १ ॥

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥

इदानीं भगवदुक्तज्ञातव्यज्ञानायार्ज्जुनः पृच्छति । किमिति । हे पुरुषोत्तम । यद्ब्रह्म । तत् । किम् । अध्यात्मम् । किम् । कर्म च । किमस्ति । अधिभूतम् । किम् । प्रोक्तम् । अधिदैवं च । किम् । उच्यते ॥ १ ॥

अर्जुन ने कहा—पुरुषोत्तम ! वह ब्रह्म क्या है, अध्यात्म क्या है और कर्म क्या है ? अधिभूत क्या कहा गया है ? अधिदैव किसको कहा जाता है ?॥१॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

अधियज्ञ इति । हे मधुसूदन । अत्र देहे । अधियज्ञो यज्ञाधिष्ठाता । कोऽस्ति । स चास्मिन्देहे । कथं ज्ञेय इत्यन्वयः । नियतात्मभिर्वशीकृतमानसैः । प्रयाणकाले । त्वं च । कथं केन प्रकारेण । ज्ञेयः । असि ॥ २ ॥

मधुसूदन ! इस शरीर में यहाँ अधियज्ञ कैसे और कौन है और मरने के समय संयत आत्मा वाले पुरुषों के द्वारा आप कैसे जाने जाते हैं ?॥ -२ ॥

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

अक्षरमिति । हे अर्जुन । परमं प्रकृतिपुरुषाभ्यामुत्कृष्टम् । अक्षरमक्षराख्यं धाम । ब्रह्म । उच्यते । स्वभावः प्रकृतिर्वासना वा । अध्यात्मम् । उच्यते । भूतानां जीवानां ये भावा देवमनुष्यत्वादिरूपधर्मास्तेषामुद्भवकरो यो विसर्गो विविधं जन्म स च । कर्मसंज्ञितः । उच्यते ॥ ३ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रीभगवान् ने कहा—ब्रह्म (आत्मा) परम अक्षर है, स्वभाव (प्रकृति) अध्यात्म कहलाता है, भूतों के भाव को उत्पन्न करने वाले विसर्ग का नाम कर्म है ॥ ३ ॥

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

अधिभूतमिति । हे देहभृतां वरार्जुन । क्षरो यो भावः । स तन्मात्र आकाशादिस्तच्च । अधिभूतम् । पुरुषो वैराजः प्रधानपुरुषो वा सच्च । अधिदैवतम् । अत्र देहे मम देहभूते ब्रह्मेंद्रादिदेवकलापे । अंतर्यामितया । स्थितोऽहमेव । अधियज्ञः यज्ञैरुपास्य इत्यर्थः ॥ ४ ॥

देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन ! नाशवान् भाव अधिभूत है, और पुरुष अधिदैवत है तथा इस शरीर में अधियज्ञ मैं ही हूँ ॥ ४ ॥

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥

अंतेति । अंतकाले च । मामेव । स्मरन् । कलेवरम् । मुक्त्वा । यः । प्रयाति । सः । मद्भावं याति । यथा यादृशं मां ज्ञात्वा गच्छति तथा तादृशैश्वर्यं प्राप्नोतीत्यर्थः । अत्र संशयः । नास्ति ॥ ५ ॥

और अन्तकाल में मुझको ही स्मरण करता हुआ जो शरीर छोड़कर जाता है वह मेरे भाव को प्राप्त होता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ५ ॥

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥

यमिति हे कौंतेय । यो जनः । अंते मरणसमये । यं यमपि । भावं देवमनुष्यपश्वादिकम् । स्मरन्सन् । कलेवरम् । त्यजति । तदा मरणात् । पूर्वकाले । तस्य पदार्थस्य भावो भावनाऽनुध्यानं तेन भावितो वासितमनाः । अत एव । तं तमेव भावम् । एति प्राप्नोति । भरतो मृगत्वमिवेति भावः ॥ ६ ॥

कुन्तीपुत्र अर्जुन ! जिस-जिस भी भाव को अन्तकाल में स्मरण करता हुआ (मनुष्य) शरीर छोड़ता है, वह सदा (पहले से ही) उस भाव से भावित हुआ उस-उस भाव को ही प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तस्मादिति। तस्माद्धेतोः। त्वम्। सर्वेषु। कालेषु। माम्। अनुस्मर। युद्धय च। मयि। अर्पिते मनोबुद्धी येन तथोक्तः सन्। माम्। एव। एष्यसि प्राप्स्यसि। असंशयोऽत्र संदेहो नास्ति ॥ ७ ॥

इसलिये सब समयों में तू मुझको स्मरण कर और युद्ध कर। (इस प्रकार) मुझ में अर्पण किये हुए मन-बुद्धि वाला होकर तू निःसन्देह मुझ को ही प्राप्त होगा॥ ७॥

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥ ८॥

अभ्यासेति। हे पार्थ। अभ्यासोऽनुदिनं श्रवणकीर्त्तनादि च योगो ध्यानं च ताभ्यां युक्तेन। अतः। नान्यं विषयं गंतुं शीलं यस्य तेन। चेतसा। परमम्। दिव्यम्। पुरुषम्। अनुचिंतयन्सन्। याति तं प्राप्नोति ॥ ८ ॥

अर्जुन! अभ्यास एवं योग से युक्त अन्य ओर न जाने वाले चित्त से चिन्तन करता हुआ मनुष्य दिव्य परम पुरुष को प्राप्त होता है॥ ८॥

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥ ९॥
प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥ १०॥

पुनस्तमेव विवृणोति द्वाभ्याम्। कविमिति प्रयाणेति। कविं सर्वज्ञम्। पुराणम्। अनुशासितारं ब्रह्मांडशिक्षकम्। अणोर्वद्धक्षेत्रज्ञात्। अणीयांसमतिसूक्ष्मम्। सर्वस्य ब्रह्मादिस्थावरांतस्य। धातारं पोषकम्। अचिंत्यरूपम्। आदित्यवर्णं प्रकाशमानम्। तमसोऽविद्यायाः परस्मात्परम्। पुरुषं वैराजपुरुषम्। भक्त्या। युक्तः। यो जनः। अचलेन। मनसा। अनुस्मरेत्। स ऐश्वर्यार्थी। प्रयाणकाले। योगबलेन। एव। भ्रुवोः। मध्ये। सम्यक्। प्राणं प्राणवायुम्। आवेश्य प्रापयित्वा। दिव्यम्। परं ब्रह्मादिभ्यः श्रेष्ठम्। तं पुरुषम्। उपैति। इति द्वयोरेकान्वयः ॥ ९-१० ॥

कवि, पुरातन, अनुशासन करने वाले, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर, सब के धाता, अचिन्त्य स्वरूप और अन्धकार से परे सूर्य के समान वर्णवाले परमेश्वर का जो मनुष्य मरने के समय भक्ति से युक्त योगबल द्वारा अचल किये हुए मन से दोनों भ्रुकुटियों के बीच में प्राण को अच्छी तरह स्थित करके (वहाँ) स्मरण करता है, वह उस दिव्य परम पुरुष को प्राप्त होता है॥ ९-१०॥

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥ ११॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ कैवल्यार्थिप्राप्याक्षरमाहात्म्यमाह । यदिति । वेदविदः । यत्तेजः पुंजरूपं ब्रह्म । अक्षरमक्षरसंज्ञम् । वदंति । वीतरागाः । यतयो यत्नशीला मुनयः । यदक्षरम् । विशंति । यदक्षरम् । इच्छंतः प्राप्तुमिच्छंतो भक्ताः । ब्रह्मचर्यम् । चरंति पालयंति । ते तुभ्यम् । तदक्षरम् । पदं मम स्थानम् । संग्रहेण संक्षेपेण । प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥

वेदवेत्ता जिसे अक्षर कहते हैं, वीतराग यति जिसमें प्रवेश करते हैं, जिसकी इच्छा करते हुए (मनुष्य) ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं उस पद को मैं संक्षेप से तुझे कहूँगा ।। ११ ।।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ।। १२ ।।
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ।। १३ ।।

तदेवाह द्वाभ्याम् । सर्वेति । ॐमिति सर्वद्वाराणि श्रोत्रेंद्रियादिद्वाराणि । संयम्य । हृदि हृदयस्थाक्षरब्रह्मत्वं न ज्ञातमपि । मनः । निरुध्य योगधारणाम् । आस्थित आश्रितः ॐ इति । एकाक्षरम् । ब्रह्म परब्रह्मणो मम वाचकं प्रणवम् । व्याहरन्मुच्चरन् । माम् । अनुस्मरंश्च सन् । यः । आत्मनः स्वस्य । प्राणम् । मूर्ध्नि भ्रुवोर्मध्ये । आधाय स्थिरीकृत्य । देहम् । त्यजन्सन् । प्रयाति गच्छति । स कैवल्यार्थी । परमां सगुणब्रह्मणः सकाशादुत्कृष्टाम् । गतिं गतिरूपनिरवयवनिर्गुणेक्षरब्रह्म । याति । इति द्वयोरेकान्वयः ॥ १२–१३ ॥

समस्त द्वारों (इन्द्रियों) को रोककर, मन का हृदय में निरोध करके, योगधारणा में स्थित होकर अपने प्राणों को मस्तक में ठहरा कर ॐ इस एक अक्षर ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ और मुझे स्मरण करता हुआ जो शरीर छोड़कर जाता हैं, वह परमगति को प्राप्त होता है ।। १२–१३ ।।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ।। १४ ।।

इदानीं ज्ञानिनो भक्तस्य स्वोपासनरीतिं प्राप्तव्यविशेषं चाह । अनन्येति । हे पार्थ । सततम् । नास्ति मत्तोऽन्यस्मिंश्चेतो यस्य सः । यः । नित्यशः मां प्रत्यक्षम् । स्मरति । नित्ययुक्तस्य सदा मय्यासक्तस्य । योगिनः अहम् । सुलभः सुखेन लभ्योऽस्मि ॥ १४ ॥

पृथापुत्र अर्जुन ! जो अनन्य चित्तवाला भक्त लगातार नित्य मेरा स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त योगी के लिये मैं सुलभ हूँ ।। १४ ।।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ।। १५ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मामिति। मां पुरुषोत्तमम्। परमां सर्वोत्कृष्टाम्। संसिद्धिं मत्सेवारूपाम्। गताः प्राप्ताः। महात्मानो मदेकांतिकभक्ताः पुनः। दुःखालयं क्लेशमात्रागारम्। अशाश्वतं नश्वरं च। जन्म। न। आप्नुवंति॥ १५॥

मुझे प्राप्त होकर परम संसिद्धि को पाये हुए महात्मा लोग दुःखों के घररूप अनित्य पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होते॥ १५॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ १६॥

आब्रह्मेति। हे अर्जुन। आब्रह्मभुवनाद्ब्रह्मणः सगुणब्रह्मणः स्थानमभिव्याप्य। लोकाः सर्वस्थानानि। पुनरावर्त्तिनो भवति। हे कौंतेय। मां प्रत्यक्षपरमेश्वरम्। उपेत्य प्राप्य तु। पुनः। जन्म। न विद्यते। भक्तानामितिशेषः॥ १६॥

अर्जुन! ब्रह्मभुवन से लेकर सभी लोक पुनरावृत्तिशील हैं। कुन्तीपुत्र! मुझे पा लेने के बाद पुनः जन्म नहीं होता॥ १६॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥ १७॥

सहस्रेति। ब्रह्मणो वैराजपुरुषस्य। सहस्रं युगानि चत्वारि युगानि पर्यंतोऽवसानं यस्य तत्। यत्। अहः दिनम्। युगानां चतुर्णां सहस्रमंतोऽवसानं यस्यास्ताम्। रात्रिम्। ये। विदुः। ते। जनाः। अहोरात्रविदः सगुणब्रह्मणो रात्रिदिवसज्ञाः संति॥ १७॥

ब्रह्मा का जो दिन है उसे सहस्रयुग तक रहने वाला और रात्रि को भी सहस्रयुग तक रहनेवाली (जो) जानते हैं वे लोग दिन-रात्रि को जानने वाले हैं॥ १७॥

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥ १८॥

अव्यक्तादिति। अहरागमे वैराजदिनारंभे। अव्यक्तान्मायायाः सकाशात् सर्वाः। व्यक्तयः स्थावरजंगमभूतानि। प्रभवंति प्रादुर्भवंति। रात्र्यागमे तस्य निशारंभे च सति। अव्यक्तसंज्ञके। तत्रैव मायायामेव। प्रलीयंते॥ १८॥

दिन के आरम्भ समय में अव्यक्त से सब व्यक्तियाँ उत्पन्न होती हैं और रात्रि के आरम्भ समय में उस अव्यक्त नाम वाले (तत्त्व) में (ही) लय हो जाती हैं॥ १८॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥ १९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भूतेति । हे पार्थ । स एव । अयम् । भूतग्रामः स्थावरजंगमप्राणिसमूहः । भूत्वा भूत्वा रात्र्यागमे । प्रलीयते । अहरागमे दिनारंभे च । अवशः स्वकर्मफलप्रदेश्वराधीनः सन् । प्रभवत्युद्भवति । एवमेव वर्षशतावसाने मल्लोकव्यतिरिक्ताः साधिपा लोका नश्यंतीति भावः ॥ १९ ॥

अर्जुन ! वह ही यह अस्वतंत्र (कर्माधीन) भूतसमुदाय उत्पन्न होकर रात्रि के आरम्भ समय में लय हो जाता है और दिन के आरम्भ समय में उत्पन्न हो जाता है ॥ १९ ॥

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥

अथाक्षरतेजोलीनकैवल्यार्थिनामप्यपुनरावृत्तिमाह द्वाभ्याम् । पर इति । तस्मात्त्रिगुणमयात् । अव्यक्ताव्प्रकृतेः । अन्यः । परः सगुणभावेभ्य उत्कृष्टः । अव्यक्तोऽतिसूक्ष्मः । सनातनः । यः । भावो वस्तु । स तु । सर्वेषु प्रकृतिपर्यंतेषु । भूतेषु । नश्यत्सु सत्सु । न । विनश्यति ॥ २० ॥

परन्तु उस (जड प्रकृतिरूप) अव्यक्त से श्रेष्ठ जो दूसरा सनातन (आत्मरूप) अव्यक्त भाव है, वह सब भूतों के नष्ट होने पर (भी) नष्ट नहीं होता ॥ २० ॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥

अव्यक्त इति । न व्यज्यते प्राकृतकरणैरित्यव्यक्तः । न क्षरति महाप्रलयेऽपि न विनश्यतीत्यक्षरोऽक्षराख्यः । इति । उक्तः । तम् । परमाम् । गतिं प्राप्तिम् । आहुर्वेदविदो वदंति । यमक्षरम् । प्राप्य न निवर्त्तंते । मुमुक्षवो न पुनरावर्तंते । तदक्षरम् । मम । परमम् । धाम सदा वासस्थानमस्ति । इति द्वयोरेकसंबंधः ॥ २१ ॥

(वह) अव्यक्त अक्षर है, ऐसा कहा गया है, उसी को परमगति कहते हैं । जिसको प्राप्त होकर फिर नहीं लौटते, वह मेरा परमधाम है ॥ २१ ॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ २२ ॥

अथ ज्ञानिनः प्राप्यस्य स्वस्य तेभ्यो विलक्षणत्वमाह । पुरुष इति । हे पार्थ । यस्य मम । अंतःस्थानि । भूतानि क्षराणि भवंति । येन मया । इदमक्षरादिकम् । सर्वम् । ततमंतर्यामितया व्याप्तमपरः सर्वोत्कृष्टः । पुरुषो दिव्यपुरुषाकृतिः । स पुरुषोत्तमोऽहं तु । अनन्यया प्रेमलक्षणया । भक्त्या । लभ्यो ज्ञानिभक्तैः प्राप्यः ॥ २२ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पृथापुत्र अर्जुन! वह परमपुरुष, जिसके अन्तर्गत सब भूत स्थित हैं और जिससे यह सारा (जगत्) व्याप्त है, सचमुच अनन्य भक्ति से प्राप्य करने योग्य है ॥ २२ ॥

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ २३ ॥

अनावृत्त्यावृत्तिकरौ गमनमार्गौ दर्शयति चतुर्भिः । यत्रेति । हे भरतर्षभ अत्र काले यस्मिन्कालाभिमानिदेवतास्थानमार्गे । प्रयाताः । योगिनः अनावृत्तिम् । आवृत्तिं च । यांति । तमेव । कालकालाभिमानिदेवमार्गम् । त्विदानीं वक्ष्यामि ॥ २३ ॥

भरतश्रेष्ठ अर्जुन! जिस काल (मार्ग) में गये हुए योगी लोग अनावृत्ति को और (जिसमें गये हुए) आवृत्ति को प्राप्त होते हैं, उस काल को अब मैं तुझे कहता हूँ ॥ २३ ॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ २४ ॥

अग्निरिति । अग्निः ज्योतिः । एताभ्यामर्चिर्मार्गाभिमानिनीदेवता ज्ञेया । अहर्वासराभिमानिनी देवता शुक्लपक्षाभिमानिनी देवता । उत्तरायणं तद्रूपाः । षण्मासास्तदभिमानिन्यो देवताः । यत्र यत्र ता देवता निवसंति तस्मिन्नर्चिर्मार्गे । प्रयाताः । ब्रह्मविदो परब्रह्मज्ञातारः जनाः । ब्रह्म अक्षरं परब्रह्म च । गच्छंति प्राप्नुंति । उभयेऽपि न पुनरावर्त्तंत इत्यर्थः ॥ २४ ॥

अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्ल पक्ष और उत्तरायण के छः महीने उनमें गये हुए ब्रह्मवेत्ताजन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ २५

धूम इति । धूमः रात्रिः । तथा कृष्णः कृष्णपक्षः दक्षिणायनं तद्रूपाः । षण्मासाः । तत्र यत्र धूमाद्यभिमानिनो देवता निवसंति तस्मिन्धूममार्गे । प्रयातः । योगी । चांद्रमसं स्वर्गलोकम् । ज्योतिः प्रकाशमानसगुणब्रह्मलोकं च प्राप्य । निवर्त्तते पुनरावर्त्तते ॥ २५ ॥

धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष तथा दक्षिणायन के छः मास उसमें (गया हुआ) योगी चन्द्रमा सम्बन्धी ज्योति को प्राप्त होकर फिर लौट आता है ॥ २५ ॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥ २६ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शुक्ले ति । शुक्लां च कृष्णां च ते । एते गती भगवन्निष्ठाक्षरनिष्ठ्यानां पुण्यकर्मणामैश्वर्यार्थिनां च गमनमार्गौ । जगतो विश्वस्य । शाश्वते अनादी । मते संमते हि । एकया शुक्लया गत्या । अनावृत्तिं याति जनोऽपुनरागमनं प्राप्नोति । अन्यया कृष्णया गत्या । पुनः । आवर्त्तते ॥ २६ ॥

ये शुक्ल-कृष्ण गति निश्चय ही जगत् में सनातन मानी गयी हैं। एक (गति) से मनुष्य अनावृत्ति को प्राप्त होता है और दूसरी से पुनः वापस लौट आता है ॥ २६ ॥

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ।। २७ ॥

मार्गद्वयस्य ज्ञानफलं दर्शयन्नाह । नेति । हे पार्थ । एते । सृती अनावृत्त्यावृत्तिप्रापकौ मार्गौ । जानन् । कश्चन कोऽपि । योगी । न । मुह्यति । तस्माद्धेतोः । हे अर्जुन । सर्वेषु । कालेषु । योगेन मद्भक्तियोगेन युक्तः । भव ॥ २७ ॥

पृथापुत्र अर्जुन ! इन दोनों मार्गों को जानने वाला कोई भी योगी मोह को प्राप्त नहीं होता । इसलिये अर्जुन ! तू सब कालों में योगयुक्त हो ॥ २७ ॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ २८॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अथाध्यायद्वयोदितस्वमाहात्म्यज्ञानाढ्यभक्तं । प्रशंसति । वेदेष्विति । योगी ज्ञानिभक्तः । इदमध्यायद्वयोक्तं प्रत्यक्षस्य मम माहात्म्यम् । विदित्वा । वेदेषु । यज्ञेषु । तपस्सु । दानेषु च । यत् । पुण्यफलं पवित्रफलम् । प्रदिष्टं कथितम् । तत् । सर्वं समग्रमेव फलम् । अत्येति । मत्सुखमधिकं ज्ञात्वेतरसुखं तृणवज्जानातीत्यर्थः । चान्नतोऽनंतरम् । आद्यमनादिसिद्धिम् । परं सर्वोत्कृष्टम् । स्थानं मद्ब्रह्मपुराख्यं धाम । उपैति प्राप्नोति ॥ २८ ॥

इति श्रीभगवद्गीताटीकायामन्वयार्थदीपिकायामष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

वेदों, यज्ञों और तपों में तथा दानों में जो पुण्यफल दिखलाया गया है, योगी इसको (भगवान् के माहात्म्य को) जानकर उस सबको लाँघ जाता है और परम आदि स्थान को प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ नवमोऽध्यायः

राजविद्या राजगुह्ययोगो हि नवमे हरेः।
उपासनाऽसाधारणैश्वर्याद्यनेकवार्त्तया ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥

इदमिति। हे अर्जुन। इदं वक्ष्यमाणं तु। गुह्यतममनधिकारिण्यतिगोप्यम्। विज्ञानेन विशेषमन्माहात्म्यज्ञानेन सहितम्। ज्ञायते मत्स्वरूपमनेनेति। ज्ञानं ममोपास नम्। अनभूयवे गुणेषु दोषाविष्करणमसूया तद्रहिताय ते तुभ्यम्। अहम्। प्रवक्ष्यामि। यदु-पासनम्। ज्ञात्वा। तम्। अशुमान्मल्लब्ध्वंतरायपापकर्मणः सकाशात् मोक्षसे ॥ १ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—(अर्जुन!) अब मैं तुझे असूयारहित (मुझ में दोषदृष्टिरहित भक्त) को वह अत्यन्त गुह्य ज्ञान विज्ञान के सहित कहूँगा, जिसे जानकर तू अशुभ से छूट जायगा ॥ १ ॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

तद्विशिनष्टि। राजविद्येति। इदमुपासनम्। विद्यानां राजेति राजविद्या। गुह्यानां राजेति राजगुह्यम्। पवित्रं शुद्धिकरम्। उत्तमं श्रेष्ठम्। प्रत्यक्ष उपासकानामिंद्रियगोचरोऽ-वगमाप्राप्तिर्यस्य तत्। धर्म्यं भागवतधर्मैः प्राप्यम्। सत्सुखं सुतरां सुखं कर्त्तुं विधातुं शक्यम्। अव्ययं सदा मत्सेवारूपफलं प्रापय्यापि न विनश्यच्च भवति ॥ २ ॥

यह (ज्ञान) राजविद्या, राजगुह्य, परमपवित्र, उत्तम, प्रत्यक्ष विषय वाला, धर्ममय, सुखपूर्वक अनुष्ठान करने योग्य (और) अविनाशी है ॥ २ ॥

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

अश्रद्दधाना इति। हे परंतप। अस्य मदुपासनरूपस्य। धर्मस्य। अश्रद्दधानाः पुरुषाः। मां प्रत्यक्षप्रभुम्। अप्राप्य। मृत्युसंसारवर्त्मनि मृत्युग्रहस्तभवाढव्याम्। निवर्त्तंते बभ्रम्यंते ॥ ३ ॥

परंतप अर्जुन! इस धर्म में श्रद्धा से रहित पुरुष मुझको न पाकर मृत्युरूप संसार चक्र में घूमते रहते हैं ॥ ३ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥

स्वमाहात्म्यमाह सप्तभिः । मयेति । अव्यक्तेंद्रियागोचरामूर्त्तिर्यस्य तेन सर्वांतर्यामिणा । मया । सर्वं क्षराक्षरम् । इदम् । जगत् । ततं व्याप्तम् । अत एव । सर्वाणि यानि भूतानि । मत्स्थानि मम शरीरतया मदाधारे स्थितानि । अहं च तेषु । नावस्थितस्तदाधारे-नैवस्थितः स्वतंत्रत्वात्सर्वकारणत्वादितिभावः ॥ ४ ॥

मुझ अव्यक्तमूर्ति से यह समूचा जगत् व्याप्त है । सारे भूत मुझमें स्थित हैं और मैं उनमें स्थित नहीं हूँ ॥ ४ ॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥

न चेति । भूतानि चिदचिद्वृंदानि । न च मत्स्थानि कुंभादिषु जलादीनि यथा तथा मयि नैव स्थितानि । किं तु । मे मम । ऐश्वरं योगं योगैश्वर्यम् । पश्य हे अर्जुन् त्वं विलोकय । मम भगवतः । आत्मा मनः संकल्प इत्यर्थः । भूतानि भावयति पालयतीति तथाभूतः । भूतानि । बिभर्त्ति धारयतीति तथोक्तश्चास्ति । अतोऽहम् । न च भूतस्था भूतेषु आधारे आधेयवन्नस्थितोऽस्मि । किं त्वंतर्यामिशक्त्या ॥ ५ ॥

तथा वे भूत (भी) मुझमें स्थित नहीं हैं । मेरे ऐश्वर्य-योग को तू देख । मैं भूतों को धारण करने वाला हूँ, पर भूतों में स्थित नहीं हूँ । मेरा मन भूतभावन है ॥ ५ ॥

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥

यथेति । यथा । सर्वत्र गच्छतीति तथोक्तः । महान् । वायुः । नित्यं सदा । आकाशस्थितः । तथा । सर्वाणि । भूतानि । मत्स्थानि मयि स्थितानि । इति । उपधारय त्वं जानीहि ॥ ६ ॥

जैसे सर्वत्र गतिशाला महान् वायु आकाश में नित्य स्थित है, वैसे ही समस्त भूत मुझ में स्थित हैं, तू ऐसा निश्चय कर ॥ ६ ॥

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

सर्वेति । हे कौंतेय । कल्पक्षये । प्रलये सति । सर्वभूतानि । मामिकां मदीयाम् । प्रकृतिं महामायाम् । यांति मत्संकल्पेन तस्यां लीनानि भवंति । कल्पादौ सृष्ट्यारंभे । पुनः । तानि । अहम् । विसृजामि ॥ ७ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्जुन ! कल्प के अन्त में सारे भूत मेरी प्रकृति को प्राप्त होते हैं और कल्प के आदि में मैं पुनः उनको उत्पन्न करता हूँ ॥ ७ ॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

प्रकृतिमिति । स्वाम् । प्रकृतिं मायाम् । अवष्टभ्याष्टधा । विभज्य । प्रकृतेः । वशादधीनत्वाद्धेतोः । अवशं परतंत्रम् । कृत्स्नं समग्रम् । इमम् । भूतग्रामं जनसमुहम् । पुनः । पुनः । अहं विसृजामि ॥ ८ ॥

प्रकृति के वश से विवश हुए इस समस्त भूत-समुदाय को मैं अपनी प्रकृति का अवलम्बन करके पुनः पुनः नाना प्रकार से सृजन करता हूँ ॥ ८ ॥

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

न चेति । हे धनंजय । तानि सृष्ट्यादीनि । कर्माणि । तेषु सर्गादिषु । कर्मसु । असक्तमासक्तिरहितम् । अतः उदासीनवत् । आसीनमवस्थितम् । मां परमेश्वरम् । न च निबध्नंति मम बंधनं नैव कुर्वंति ॥ ९ ॥

अर्जुन ! उन कर्मों में उदासीन की भाँति स्थित मुझ आसक्तिरहित को वे (विषम रचनादि) कर्म नहीं बाँधते ॥ ९ ॥

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ १० ॥

मयेति । हे कौंतेय । अध्यक्षेण कर्मफलप्रदात्रा । मया पुरुषेण मया हेतुना । प्रकृतिर्मदीया माया । स चराचरं समीचीना समीचीनलिंगसहितम् । जगद्विश्वम् । सूयते तत्तत्कर्मानुगुणं जनयति अनेनाध्यक्षेण हेतुना । विपरिवर्त्तते लयं प्राप्नोति च । एतदादिममासाधारणमाहात्म्यं ज्ञातव्यमिति भावः ॥ १० ॥

अर्जुन ! मुझ अध्यक्ष के द्वारा प्रेरित प्रकृति समस्त चराचर जगत् को उत्पन्न करती है, इस हेतु से यह जगत् चलता रहता है ॥ १० ॥

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ १२ ॥

ईदृशं स्वमाहात्म्यमजानतो निर्दिशति द्वाभ्याम् । अवजानंतीति । मोघाशा इति । भूतानां समग्रबद्धमुक्तानां महान् य ईश्वरः स्वामी तं तथा भूतम् । मम । परं श्रेष्ठम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महिमानम् । अजानंतः । अतएव । मोघा निष्फला आशा येषां ते । मोघानि कर्माणि येषां ते । मोघं विपरीतं ज्ञानं येषां ते । अतः । विचेतसो विक्षिप्तचित्ताः । अतः । राक्षसीं हिंसाबहुलाम् । आसुरीं मयि वैरोत्पादिकाम् । मोहिनीं मयि दोषारोपणरूपां चैव । प्रकृतिम् । श्रिता आश्रिताः । मूढा अज्ञजनाः । मानुषीम् । तनुं श्रीमूर्त्तिम् । आश्रितम् । मां प्रत्यक्षम् । अवजानंति निंदंति । इति द्वयोरेकान्वयः ॥ ११–१२ ॥

मूर्ख लोग मेरे परम भाव को न जानते हुए भूतों के महान् ईश्वर मुझ मानव शरीरधारी की अवज्ञा करते हैं ॥ ११ ॥

राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृति का आश्रय लेनेवाले मनुष्य निःसन्देह व्यर्थ आशा वाले, व्यर्थ कर्मों वाले, व्यर्थ ज्ञान वाले और विक्षिप्तचित्त होते हैं ॥ १२ ॥

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ १३ ॥

तर्हि के त्वां भजंतीति चेत्तत्राह द्वाभ्याम् । महात्मान इति । हे पार्थ । दैवीम् । प्रकृतिम् । आश्रिताः । ये महात्मानः । ते तु । भूतादिं सर्वेषां कारणम् । अव्ययं च । माम् । ज्ञात्वा । नास्ति मत्तोऽन्यस्मिन्मनो येषां तथोक्ताः संतः । भजंति साक्षान्मां सेवंते ॥ १३ ॥

परन्तु हे पृथापुत्र अर्जुन ! दैवी प्रकृति के आश्रित अनन्य मनवाले महात्मा लोग, मुझे भूतों का आदि और अविनाशी जानकर भजते हैं ॥ १३ ॥

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥

सततमिति । दृढव्रता अचलनियमाः । यतंत इंद्रियजये प्रयासं कुर्वाणाश्च संतः । मां श्रीहरिम् । सततम् । कीर्त्तयंतो गायंतः । नमस्यंतश्च । नित्ययुक्ताः सावधानाः संतः । भक्त्या । माम् । उपासते ॥ १४ ॥

वे सदा मेरा कीर्तन करते हुए (मेरे लिये) दृढव्रती होकर प्रयत्न करते हुए और भक्ति से मुझे नमस्कार करते हुए नित्य मुझ में अनुरक्त रह कर मुझे भजते हैं ॥ १४ ॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ १५ ॥

इदानीं स्वस्य सर्वात्मकत्वं निरूपयन्नाह । ज्ञानेति । अन्ये ज्ञानिभक्ताः । ज्ञानयज्ञेन । अपि शब्दान्नवधाभक्त्या च । माम् । यजंतोऽभ्यसंतः संतः । पृथक्त्वेन सर्वेष्वंतर्यामितया कार्यार्थं भिन्नभिन्नमूर्त्तिभिश्च । बहुधा । स्थितमितिशेषः । विश्वतः सर्वतो मुखं यस्य तं सर्वत्र पश्यंतमित्यर्थः । माम् । एकत्वेनैकस्मिन्मय्यनन्यभावेन । उपासते भजंति ॥ १५ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और दूसरे (महात्मा) ज्ञान यज्ञ से मेरी पूजा करते हुए भी बहुत प्रकार से पृथक्-पृथक् रूप से (जगत् के आकार में) स्थित मुझ विश्वतोमुख परमेश्वर की एकत्व भाव से उपासना करते हैं ॥ १५ ॥

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६ ॥

इदानीं यज्ञादीनां स्वस्य शरीरत्वं दर्शयन्नाह चतुर्भिः । अहमिति । क्रतुः श्रौतोऽग्निष्टोमादिः । अहम् । अस्मि ममशरीरं चेति सर्वत्र योज्यम् । यज्ञः स्मार्तः पंचयज्ञादिरहम् । स्वधाऽहम् । औषधमन्नमहम् । मंत्रोऽहम् । आज्यमहम् । अग्निरहम् । हुतं होमश्चाहमेव ॥ १६ ॥

मैं क्रतु हूँ, मैं यज्ञ हूँ, मैं स्वधा हूँ, मैं औषध हूँ, मैं मन्त्र हूँ, मैं ही घृत हूँ, मैं अग्नि हूँ और मैं ही हवन हूँ ॥ १६ ॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥ १७ ॥

पितेति । अस्याखिलस्य । जगतः पिता । माता । पितामहः पितुः पिता । धाता ब्रह्मा । वेद्यं ज्ञेयम् । पवित्रं शुद्धिकरम् । ॐकारः । ऋक् । साम । यजुः । चकारादथर्ववेदश्च । अहमेव । एतत्सर्वं मम शरीरमित्यर्थः ॥ १७ ॥

इस जगत् का पिता, माता, पितामह और धाता मैं हूँ । (वेदों के द्वारा) जानने योग्य पवित्र ओंकार और ऐसे ऋक्, साम, यजु भी मैं हूँ ॥ १७ ॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥

गतिरिति । गतिः सर्वेषां प्राप्यं वस्तु । भर्त्ता पोष्टा । प्रभुः स्वामी । साक्षी कर्मद्रष्टा । निवासः । शीर्यते दुःखमस्मिन्निति शरणम् । सुहृत्सुखकर्त्ता प्रभवः सृष्टिकृदनिरुद्धः । प्रलयः संहर्त्ता संकर्षणः । स्थानं स्थितिकर्त्ता प्रद्युम्नः । निधानं प्रकृतिः । अव्ययमविनाशि । बीजं प्रकृत्यधिष्ठात्रक्षरपुरुषश्च । अहमस्मि सर्वं तन्ममशरीरम् ॥ १८ ॥

(सब की) गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सुहृद्, उत्पत्ति और प्रलय का स्थान, निधन और अविनाशी बीज मैं ही हूँ ॥ १८ ॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥

तपामीति । हे अर्जुन । अहम् । तपामि प्रकाशयामि । वर्षं जलम् । अहम् । निगृह्णामि । उत्सृजामि च । सूर्यरूपेणेतिशेषः । अमृतं देवनरादिजीवनवस्तु । मृत्युः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कालश्चाहम् । किं बहूक्त्या । सत्कार्यावस्थम् । असत्कारणावस्थं च । अहमेवास्मि । मच्छरीरमित्यर्थः ॥ १९ ॥

अर्जुन ! मैं तपता हूँ, मैं वर्षा को रोके रखता और बरसता हूँ और अमृत तथा मृत्यु एवं सत् तथा असत् भी मैं ही हूँ ॥ १९ ॥

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥ २० ॥

इदानीं स्वर्गभोगासक्ताज्ञानिनां वर्तनमाह द्वाभ्याम् । त्रैविद्या इति । तिस्रः ऋग्यजूःसामरूपा विद्या येषां ते । तत्रोदितकर्मफलासक्ताः इत्यर्थः । पूतपापा नित्यनैमित्तिककर्मभिर्नाशितकिल्बिषाः सोमं यज्ञावशिष्टं पिबंत्यश्नंतीति तथोक्ता जनाः । यज्ञैः । मां देवेंद्रादिरूपं भगवंतम् । इष्ट्वा । स्वर्गप्राप्तिम् । ये पार्थयंते । ते । पुण्यम् । सुरेंद्रलोकम् । आसाद्य प्राप्य । दिवि स्वर्गे । दिव्यान् । देवभोगान् । अश्नंति भुंजंति ॥ २० ॥

तीनों वेदों में निष्ठा रखने वाले, सोमरस पीने वाले, विशुद्ध पापों वाले पुरुष यज्ञों से मुझे पूजकर (मुझे न जानने के कारण) स्वर्ग-प्राप्ति की याचना करते हैं । वे पुण्यफल रूप इन्द्रलोक को पाकर स्वर्ग में देवताओं के दिव्य भोगों को भोगते हैं ॥ २० ॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥

त इति । ते देवाः । तं यज्ञादिफलरूपम् । विशालम् । स्वर्गलोकम् । भुक्त्वा । पुण्ये । क्षीणे नष्टे सति । मर्त्यलोकम् । विशंति पुनः प्रविशंति । त्रय्यावेदत्रय्या विहितो यो धर्मस्तम् । अनुप्रपन्ना अनुसृताः । कामकामाः स्वर्गभोगेच्छवो जनाः । एवम् । गतागतमागमापायिसुखम् । लभंते ॥ २१ ॥

वे उस विशाल स्वर्ग लोक को भोग कर पुण्य के क्षीण होने पर पुनः मर्त्यलोक में प्रवेश करते हैं । इस प्रकार केवल वेदत्रयी-प्रतिपादित धर्म के आश्रित और भोगों की कामना वाले मनुष्य आवागमन को प्राप्त होते हैं ॥ २१ ॥

अनन्यांश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥

निष्कामभक्तानां न तथात्वमित्याह अनन्यानिति । नास्ति मद्भजनादृतेऽन्यप्रयोजनं येषां ते । अतः । माम् । चिंतयंतः संतः । ये जनाः । पर्युपासते मां भजंति । नित्याभियुक्तानां मयि सदा संयोगं प्राप्तानाम् । तेषां ज्ञानिभक्तनाम् । योगस्य मत्संयोगस्य क्षेमं निर्विघ्नत्वम् । अहम् । वहामि प्रापयामि ॥ २२ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो अनन्य भक्तजन मुझे चिन्तन करते हुए भलीभाँति मेरी उपासना करते हैं, उन नित्ययुक्त पुरुषों का योगक्षेम मैं वहन करता हूँ ॥ २२ ॥

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥

ये पुनरावर्त्तंते तानाह त्रिभिः । य इति । हे कौंतेय । श्रद्धया । अन्विताः । ये । अन्यद्देवता भक्ताः । यजंति । तेऽपि । मामिन्द्रादिरूपं मामेव । यजंति । तेषां मच्छरीरत्वादिभावः । अपि । अविधिपूर्वकं यजंति । सर्वेषामंतर्यामी श्रीकृष्णोऽस्त्यतस्ते तच्छरीरभूताः स च तच्छरीरी तेषां पूजनं तस्य पूजनमितिज्ञानपूर्वकं न यजंतीत्यर्थः ॥ २३ ॥

जो भी अन्य देवताओं के भक्त श्रद्धा से युक्त होकर (उनको) पूजते हैं वे भी, हे अर्जुन ! मुझको ही अविधिपूर्वक पूजते हैं ॥ २३ ॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ २४ ॥

अहमिति । सर्वयज्ञानाम् । भोक्ता । अहं हि । सर्वांतर्यामितया स्वीकर्त्ताऽहमेवास्मि । प्रभुः फलदाता चाहमेव । एवंभूते माम् । तत्त्वेन यथार्थतः । ते देवभक्ताः । नत्वभिजानंति नैव बुध्यंते । अतः । च्यवंति स्वर्गात्पतंति ॥ २४ ॥

क्योंकि मैं ही सब यज्ञों का भोक्ता और प्रभु भी हूँ; परन्तु वे मुझ को तत्त्व से नहीं जानते हैं, इसलिये गिर जाते हैं ॥ २४ ॥

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ २५ ॥

यांतीति । देवेषूपास्यत्वेन व्रतं संकल्पो येषां ते जनाः । देवान् । यांति । पितृव्रताः । पितॄन् । यांति । भूतानां भैरवादीनामिज्योपासना येषां ते । भूतानि भैरवादीनि । यांति । मद्याजिनोऽपि मदुपासकास्तु माम् । यांति ॥ २५ ॥

देवव्रती देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितृव्रती पितरों को प्राप्त होते हैं, भूतों के पूजक भूतों को प्राप्त होते हैं और मेरे पूजक मुझको ही प्राप्त होते हैं ॥२५॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

स्वस्याराधने सुकरत्वमाह । पत्रमिति । यो मदेकांतिकभक्तः । मे मह्यम् । पत्रम् । पुष्पम् । फलम् । तोयं च । भक्त्याऽतिस्नेहेन । प्रयच्छति ददाति । प्रयतात्मनः शुद्धचित्तस्य भक्तस्य । भक्त्याऽत्युत्साहेनोपहृतं दत्तम् । तत्पत्रपुष्पादिकम् । अहम् । अश्नामि गृह्णामि ॥ २६ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो मुझे पत्र, पुष्प, फल और जल भक्तिपूर्वक अर्पण करता है, उस पवित्र मन वाले भक्त का भक्ति से अर्पण किया हुआ पत्र-पुष्पादि मैं खाता हूँ ॥ २६ ॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥

अतस्त्वं मयि सर्वसमर्पणं कुरुष्वेत्याह । यदिति । हे कौंतेय । त्वम् । यद् देहनिर्वाहार्थं कर्म । करोषि । यदन्नादि । अश्नासि । यद्धविः । जुहोषि । यद्दानम् । ददासि । यत्तपस्यसि । तत्सर्वम् । मयि सर्वेश्वरे पुरुषोत्तमेऽर्पणम् । कुरुष्व ॥ २७ ॥

तू जो कुछ करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ देता है, जो कुछ तप करता है, हे अर्जुन ! वह सब मुझे अर्पण कर ॥ २७ ॥

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८ ॥

अथ तत्फलमाह । शुभेति । एवम् । संन्यासः कर्मणां मदर्पणं स एव योगस्तेन युक्त आत्मा मनो यस्य त्वम् । शुभाशुभफलैः । कर्माण्येव बंधनानि तैः मोक्ष्यसे । विमुक्तः सन् । माम् । उपैष्यसि प्राप्स्यसि ॥ २८ ॥

इस प्रकार संन्यास योग से युक्त मन वाला होकर तू शुभ-अशुभ फल वाले कर्म बन्धनों से छूट जायगा और (उनसे) छूटा हुआ तू मुझको प्राप्त होगा ॥ २८ ॥

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ २९ ॥

अथ स्वस्य समत्वमाह । सम इति । सर्वभूतेषु । अहम् । समोऽनुग्राहकतया तुल्योऽस्मि । अतः कश्चिज्जनः । मे मम । द्वेष्यः । प्रियश्च । नास्ति । ये जनाः । भक्त्या प्रेम्णा । माम् । भजंति । ते तु । मयि स्थिताः । मां प्राप्नुवंतीत्यर्थः । तेषु । अहं चापि स्थितः । तद्दृष्टिगोचरो भवामीत्यर्थः ॥ २९ ॥

सब प्राणियों में मैं सम हूँ, (मेरा समभाव है) न मेरा (कोई) द्वेषपात्र है और न प्रिय है । परन्तु जो मुझको भक्ति से भजते हैं, वे मुझ में हैं और मैं भी उनमें हूँ ॥ २९ ॥

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ३० ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपीति । सुदुराचारो जात्या निकृष्टोऽपि । अन्यं मत्तोऽपरं न भजतीति तथोक्तः सन् । मां प्रत्यक्षम् । भजते । चेत् । सः । साधुः श्रेष्ठः एव । मंतव्यः । कुत इत्यत्राह । सः । सम्यक् सर्वनियंता पुरुषोत्तम एव ममोपास्यः पतिः प्राप्यश्चेति व्यवसितं निश्चयो यस्य तथाभूतो हि ॥ ३० ॥

यदि कोई अति दुराचारी भी अनन्य भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही माना जाने योग्य है, क्योंकि वह ठीक-ठीक निश्चय वाला है ॥ ३० ॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥

क्षिप्रमिति । हे कौंतेय । मे प्रत्यक्षस्य मम । भक्तः । क्षिप्रं शीघ्रं यथा तथा । धर्मेष्वात्मा मनो यस्य तथाभूतो मद्भक्तसमागमेन भवति । शश्वच्छांतिमविनाशिसुखं च । निगच्छति प्राप्नोति । न । प्रणश्यति । इति त्वम् । प्रतिजानीहि ॥ ३१ ॥

वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहने वाली शान्ति को प्राप्त होता है । हे कुन्तीपुत्र ! तुम प्रतिज्ञा करो कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता ॥३१॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ ३२ ॥

मामिति । हे पार्थ । किं बहूक्त्या । मां प्रत्यक्षपरमेश्वरम् । व्यपाश्रित्य । ये । पापयोनयो निकृष्टजन्मानः स्युः । याश्च । स्त्रियः । तथा । ये च । वैश्याः । शूद्राश्च स्युः । तेऽपि । परां श्रेष्ठाम् । गतिं मम धाम । यांति । हि नात्र संशयोऽस्ति ॥ ३२ ॥

अर्जुन ! मेरा आश्रय लेकर स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र (अथवा) जो भी कोई पापयोनि हों, वे भी परमगति को प्राप्त हो जाते हैं ॥ ३२ ॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३३ ॥

किमिति । भक्ता ये मद्भक्ताः । पुण्याः शुद्धाः । ब्राह्मणाः । तथा । राजर्षयश्च । ते किं पुनः परां गतिं यांति तत्र किं वक्तव्यम् । तस्माद्धेतोः । अनित्यं नश्वरम् । असुखं क्लेशप्रचुरं च । इमं मानुषम् । लोकम् । प्राप्य । राजर्षिस्त्वम् । भजस्व निजधर्मेण सेवस्व ३३॥

फिर पुण्ययोनि ब्राह्मणों और राजर्षि भक्तों के लिये तो कहना ही क्या ? (इसलिये) तू इस अनित्य और सुखरहित मनुष्य शरीर को प्राप्त होकर मुझको (ही) भज ॥ ३३ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

भजनप्रकारं वदन्नाह । मन्मना इति । मयि साक्षात्परमेश्वरे मनो यस्य नान्यत्र तथा भूतस्त्वम् । मद्भक्तः । भव । मद्याजी ममैव यजनपरो भव । माम् । नमस्कुरु । एवमुक्तप्रकारैः । मत्परायणः सन् । आत्मानं मनः युक्त्वा मत्स्वरूपे नियोज्य । मामेव एष्यसि प्राप्स्यसि ॥ ३४ ॥

इति श्रीभगवद्गीताटीकायामन्वयार्थदीपिकायां नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

मुझमें मन वाला हो, मेरा भक्त हो, मेरा पूजन करने वाला हो, मुझको नमस्कार कर। इस प्रकार आत्मा को लगाकर मेरे परायण हुआ तू मुझको ही प्राप्त होगा ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ दशमोऽध्यायः

विभूतिविस्तरयोगो दशमे हरिणोदितः ।
स्वस्यानन्योपासनार्थं माहात्म्यज्ञापनाय च ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥

भूयेति । हे महाबाहो । प्रीयमाणाय मदुपासनामाहात्म्यं श्रुत्वा प्रसन्नाय । ते तुभ्यम् । हितकाम्ययाऽत्र परत्र हितेच्छया । परमं श्रेष्ठम् । यत् । वचः । भूयः अहम् । वक्ष्यामि । मे मम तद्वचः त्वम् । शृणुं नेति । मे मम । प्रभवं महत्वम् । सुरगणाः । न विदुः । महर्षयश्च । न विदुः । तं हेतुमाह । अहम् । सर्वशः सर्वेषाम् । देवानाम् । महर्षीणां च आदिः कारणमस्मि हि निश्चितम् ॥ १-२ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—महाबाहो अर्जुन ! फिर भी मेरे श्रेष्ठ वचन को सुन ! जो मैं (सुनकर) प्रसन्न होने वाले तुझ भक्त के लिए तेरे हितकी कामना से कहूँगा ॥ १ ॥

न देवतागण मेरे प्रभाव को जानते हैं और न महर्षिगण; क्योकि मैं देवताओं और महर्षियों का सब प्रकार से आदि हूँ ॥ २ ॥

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥
बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥

य इति । यो मनुष्यः । माम् । अजमजन्मानम् । अनादिं निर्हेतुः सन्सर्वेषां हेतुम् । लोकमहेश्वरं सर्वदेवमनुष्यादीनां महेश्वरं च । वेत्ति जानाति । सः जनः । मर्त्येषु मनुष्येषु । असंमूढो बुद्धिमान् सन् । सर्वपापैः । प्रमुच्यते । स्वस्य बुद्ध्यादिकारणत्वमाह द्वाभ्याम् । बुद्धिरिति । बुद्धिर्विवेकः । ज्ञानं तत्त्वज्ञानम् । असंमोहो विपरीतज्ञानराहित्यम् । क्षमा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सत्यम् । दमः । शमः । सुखम् । दुःखम् । भवो जन्म । अभावो मृत्युः । भयम् । अभयं चैव ॥ ३-४ ॥

मनुष्यों में मोह से रहित हुआ जो भक्त मुझ को अजन्मा, अनादि और लोकों का महान् ईश्वर जानता है, वह सब पापों से छूट जाता है बुद्धि, ज्ञान, असंमोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, भाव, अभाव, भय, और अभय ॥३-४॥

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥

अहिंसेति । अहिंसा । समता सुखदुःखेषु समचित्तत्वम् । तुष्टिः संतोषः । तपः । दानम् । यशः । अयशश्च । पृथग्विधा नानाविधाः । भूतानाम् । भावा एते बुद्ध्यादयः मत्तस्तत्तत्कर्मानुगुणं मत्संकल्पादेव । भवंति । इति द्वयोरेकसंबंधः ॥ ५ ॥

अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यश, अपयश—प्राणियों के नाना भाव (मनोवृत्तियाँ) मुझ से ही होते हैं ॥ ५ ॥

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥

महर्षय इति । पूर्वे पूर्वभवाः । सप्त महर्षयः । मानसा मनसो जाताः । चत्वारः सनकादयः । तथा । मनवः स्वायंभुवादयः । येषाम् । लोके । जाताः इमाः । प्रजाश्च । मत्-मत्तो भावः प्रभावो येषां ते । मदधीनैश्वर्या सर्वे संतीत्यर्थः ॥ ६ ॥

ब्रह्मा के मन से उत्पन्न पहले के सात महर्षि और चार मनु, जिनकी लोक में उत्पन्न हुई ये प्रजाएँ हैं, मेरे भाव वाले हैं ॥ ६ ॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

एतामिति । एताम् । मम । विभूतिमैश्वर्यम् । योगं नित्यदिव्यगुणगणसंयोगं च । यः । तत्त्वतो यथावत् । वेत्ति । सः । अविकंपेन निश्चलेन । योगेन मद्भक्तियोगेन । युज्यते युक्तो भवति । अत्र । संशयः । नास्ति ॥ ७ ॥

जो मेरी इस विभूतिको और (कल्याणगुणगणरूप) योग को तत्त्व से जानता है, वह अचल (भक्ति) योग से युक्त होता है इसमें संशय नहीं है ॥७॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अहमिति। सर्वस्याक्षरादिसमग्रस्य। प्रभवः कारणम्। अहमस्मि। मत्तो मत्सं-कल्पात्। सर्वम्। प्रवर्त्तते। इति। मत्वा ज्ञात्वा। भावेन मयि भक्त्या समन्विताः बुधा विवेकिनः। माम्। भजंते॥ ८॥

मैं सबकी उत्पत्ति का कारण हूँ, सब मुझसे ही प्रवृत्त किये जाते हैं।' ऐसा जानकर भावसमन्वित ज्ञानी भक्त मुझको भजते हैं॥ ८॥

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ ९॥

सत्प्रेमभजनरीतिं वदन्नाह द्वाभ्याम्। मदिति। मयि चित्तं येषां ते। मद्गतप्राणा मदधीनजीवनाः। परस्परम्। बोधयंतो मत्प्रसन्नताहेतुं साधनान्यालोचयंतः नित्यम्। मां मम जन्मकर्माणि। कथयंतश्च संतः। तुष्यंति। रमंति मत्पद्यादीनि गायंतः संतः क्रीडंति॥ ९॥

मुझमें चित्त वाले और मेरे ही अधीन प्राणों वाले भक्त, परस्पर (अपने अनुभव को) समझाते हुए और नित्य मेरा गुणगान करते हुए सन्तुष्ट होते हैं और रमण करते हैं॥ ९॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ १०॥

तेषामिति प्रीतिपूर्वकम्। भजतामेवं मां भजमानानाम्। सततं युक्तानां मत्सं-योगेच्छावतां च। तेषां भक्तानाम्। अहम्। तं माहात्म्ययुक्तम्। बुद्धियोगं ज्ञानयोगम्। ददामि। ते भक्ताः येन। मां प्रत्यक्षम्। उपयांति॥ १०॥

उन निरन्तर (मुझ में) लगे हुए भजन करने वाले (भक्तों) को मैं प्रीतिपूर्वक यह बुद्धियोग देता हूँ कि जिससे वे मुझको प्राप्त हो जाते हैं॥ १०॥

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ ११॥

तेषामिति। तेषां भक्तानामेव। अनुकंपार्थमनुग्रहाय। आत्मभावस्थस्तन्मनोवृत्तौ स्थितः। अहम्। अज्ञानजम्। तमस्तमोरूपलोभकामादिदोषवृंदम्। भास्वता। ज्ञानदीपेन नाशयामि॥ ११॥

उन्हीं पर अनुग्रह करने के लिये मैं (उनके) आत्मभाव में स्थित होकर (उनके) अज्ञान से उत्पन्न अन्धकार को प्रज्वलित ज्ञान-दीपक से नाश कर देता हूँ॥ ११॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ १२ ॥

संक्षेपेणोक्तं विभूतियोगं विस्तरेणार्जुनः पृच्छति । परमिति । परब्रह्म परं धाम सर्वाधाररूपम् । परमं पवित्रं च । यद्वेदाद्या वदंति स देवो भगवानस्ति । शाश्वतं नित्यम् । दिव्यम् । पुरुषम् । अजम् । आदिदेवम् । विभुं च ॥ १२ ॥

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥ १३ ॥

आहुरिति । त्वां भवंतम् । सर्वे ऋषयः । आहुः । ते के । देवर्षिः । नारदः । तथा । असितः देवलः । व्यासः । स्वयं चैव त्वम् । मे मह्यम् । ब्रवीषि ॥ १३ ॥

अर्जुन ने कहा—आप परमब्रह्म, परमधाम और परमपवित्र हैं । सब ऋषि और देवर्षि नारद, असित, देवल, व्यास आपको शाश्वत दिव्य पुरुष, अजन्मा, व्यापक आदिदेव कहते हैं और आप स्वयं भी मुझे ऐसा ही कहते हैं ॥१२-१३॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १४ ॥

सर्वमिति । हे केशव । त्वम् । यत् । माम् । वदसि । एतत् । सर्वम् । अहम् । ऋतं सत्यम् । मन्ये हि भगवन् । ते तव । व्यक्तिं प्रादुर्भावम् । देवाः । न विदुः । दानवाश्च । न विदुः । हि ॥ १४ ॥

केशव ! आप जो कुछ मुझसे कहते हैं, वह सब मैं सत्य (तत्त्व) मानता हूँ; क्योंकि आपके व्यक्तित्व को हे भगवन् ! न देवता जानते हैं और न दानव ॥१४॥

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥

स्वयमिति । हे पुरुषोत्तम । हे भूतभावन हे भूतेश । हे देवदेव । हे जगत्पते । त्वम् । आत्मानं यथावस्थितस्वस्वरूपम् । आत्मना स्वबुद्धया । स्वयमेव । वेत्थ जानासि ॥ १५ ॥

पुरुषोत्तम ! भूतभावन ! भूतेश ! देवदेव ! जगन्नाथ ! आप स्वयं ही अपने ज्ञान से अपने-आपको जानते हैं ॥ १५ ॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वक्तुमिति। दिव्याः प्रख्याताः। याः। आत्मनः स्वस्य विभूतयः संति। ताः। अशेषेण समग्रतया। त्वम्। वक्तुम्। अर्हसि। याभिः। विभूतिभिः। त्वम्। इमान्। लोकान्। व्याप्य तिष्ठसि स्थितोऽसि॥ १६॥

जिन विभूतियों से इन लोकों को व्याप्त करके आप स्थित हैं, उन अपनी दिव्य विभूतियों का सम्पूर्णता से वर्णन करने में आप ही समर्थ हैं॥ १६॥

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥ १७॥

कथमिति। हे योगिन्। अहम्। कथं कैः प्रकारैः। सदा। त्वाम्। परिचिंतयन्सन्। विद्यां बुध्येय। हे भगवन् मया। त्वं च केषु केषु। भावेषु वस्तुषु। चिंत्योऽसि चिंतितुं योग्योऽसि॥ १७॥

भगवन्! मैं भक्तियोगी सदा आपका चिन्तन करता हुआ आपको कैसे जानूँ? और आप मुझसे किन-किन भावों में चिन्तन किये जाने के योग्य हैं?॥१७॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥ १८॥

विस्तरेणेति। हे जनार्दन। आत्मनस्तव। योगं योगैश्वर्यम्। विभूतिं च। विस्तरेण। भूयः पुनः। कथय मह्यं वद। हि यस्माद्धेतोः। अमृतममृततुल्यं त्वद्वाक्यम्। शृण्वतः। मे मम। तृप्तिः। नास्ति॥ १८॥

जनार्दन! अपने योग और विभूति को विस्तारपूर्वक आप फिर कहिये, क्योंकि (आपके माहात्म्य रूप) अमृत को सुनते-सुनते मुझे तृप्ति नहीं हो रही है॥ १८॥

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे॥ १९॥

हंतेति। हंतेति संबोधने। हे कुरुश्रेष्ठ। दिव्याः प्रसिद्धाः। याः। आत्मनो मम विभूतयः। संति हि। ताः। प्राधान्यतो मुख्यत्वेन। ते तुभ्यम्। कथयिष्यामि। विस्तरस्य विभूतिभिर्विस्तारं प्राप्तस्य। मे मम। अतः संख्यानिर्णयः। नास्ति॥ १९॥

श्रीभगवान् ने कहा—अर्जुन! अब मैं तुझे अपनी कल्याणमयी विभूतियों को प्रधानता से कहूँगा। क्योंकि मेरे (विभूतियों के) विस्तार का अन्त नहीं है॥१९॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥ २०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अहमिति । हे गुडाकेश । सर्वभूतानामाशयो हृदयं तस्मिन्स्थितः । आत्मा जीवात्मनां शरीरितया स्थितोऽन्तर्यामी परमात्मा । अहमस्मि । भूतानाम् । आदिरुत्पत्तिः । मध्यं स्थितिः । अंतः प्रलयश्च । अहमेवास्मि । तत्तत्कर्त्तारोऽनिरुद्धप्रद्युम्नसंकर्षणा मद्विभूतयः संतीत्यर्थः ॥२०॥

अर्जुन ! सब भूतों के हृदय में स्थित आत्मा मैं हूँ और मैं ही सारे भूतों का आदि, मध्य और अन्त हूँ ॥ २० ॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥

ततोऽन्यास्ता आह । आदित्यानामिति । आदित्यानामदितिपुत्राणां मध्ये विष्णुरुपेंद्रः । अहमस्मि मदवतार इत्यर्थः । ज्योतिषां प्रकाशमानानां मध्ये । अंशुमान् । रविः । मरुतां वायूनां मध्ये । मरीचिस्तन्नामा वातः । नक्षत्राणां ताराणां मध्ये । शशी चंद्रश्च । अहमस्मि । अत्र सर्वत्र स मम विभूतिरस्तीति योजनीयम् ॥ २१ ॥

आदित्यों में मैं विष्णु, ज्योतियों में किरणों वाला सूर्य, मरुतों में मरीचि और नक्षत्रों में चन्द्रमा मैं हूँ ॥ २१ ॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥

वेदानामिति । वेदानां मध्ये । सामवेदोऽहमस्मि । देवानां मध्ये । वासव इन्द्रोऽहमस्मि । इन्द्रियाणां मध्ये । मनोऽहमस्मि । भूतानां चेतनासंयुक्तानां या चेतना सा अहमस्मि ॥ २२ ॥

मैं वेदों में सामवेद हूँ, देवताओं में इन्द्र हूँ, इन्द्रियों में मन हूँ और भूतों की चेतना हूँ ॥ २२ ॥

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥

रुद्राणामिति । रुद्राणां मध्ये । शंकरः । यक्षरक्षसां मध्ये वित्तेशो वैवस्वतश्चाहमस्मि । वसूनां मध्ये । पावकस्तन्नामा वसुः । शिखरिणामचलानां मध्ये । मेरुश्च । अहमस्मि ॥ २३ ॥

मैं रुद्रों में शङ्कर और यक्ष-राक्षसों में कुबेर हूँ, वसुओं में पावक और शिखर वाले पर्वतों में सुमेरु मैं हूँ ॥ २३ ॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुरोधसामिति । हे पार्थ । पुरोधसां मध्ये । मुख्यम् । बृहस्पतिम् । मां मद्विभूतिम् । विद्धि । सेनानीनाम् । स्कंदः । सरसाम् । सागरश्च । अहमस्मि । अत्र सर्वत्र षष्ठ्यंते मध्ये इति योजनीयम् ॥ २४ ॥

अर्जुन ! पुरोहितों में प्रमुख बृहस्पति तू मुझको जान। सेनापतियों में स्कन्द और सरोवरों में सागर मैं हूँ ॥ २४ ॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥

महर्षीणामिति । महर्षीणाम् । भृगुः । गिरां वाचाम् । एकमोंकाराभिधम् । अक्षरं च । अहम् । अस्मि । यज्ञानाम् । जपयज्ञः । स्थावराणाम् । हिमालयश्च । अहमस्मि ॥२५॥

महर्षियों में भृगु, वाणियों में एक अक्षर (प्रणव), यज्ञों में जपयज्ञ और स्थावरों में हिमालय मैं हूँ ॥ २५ ॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ २६ ॥

अश्वत्थ इति । सर्ववृक्षाणाम् । अश्वत्थः पिप्पलः । देवर्षीणाम् । नारदः । गंधर्वाणाम् । चित्ररथश्चाहमस्मि । सिद्धानाम् । कपिलो मुनिर्ममावतारोऽस्ति ॥ २६ ॥

सब वृक्षों में पीपल, देवर्षियों में नारद; गन्धर्वों में चित्ररथ, सिद्धों में कपिल मुनि मैं हूँ ॥ २६ ॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥

उच्चैरिति । अश्वानाम् । अमृतेन सहार्णवादुद्भवो यस्य तम् । उच्चैःश्रवसमश्वम् । गजेंद्राणाम् । ऐरावतममृतेन सहोद्भूतं तम् । नराणाम् । नराधिपं च । माम् । विद्धि ॥ २७ ॥

घोड़ों में अमृत-मन्थन के समय उत्पन्न उच्चैःश्रवा, श्रेष्ठ हाथियों में ऐरावत और नरों में राजा तू मुझको जान ॥ २७ ॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ २८ ॥

आयुधानामिति । आयुधानाम् । वज्रम् । धेनूनाम् । कामधुक् । अहम् । अस्मि । प्रजनोऽजोद्भवहेतुः कंदर्पश्चाहमस्मि । सर्पाणाम् । वासुकिरहमस्मि ॥ २८ ॥

मैं शस्त्रों में वज्र और गौओं में कामधेनु हूँ; उत्पन्न करने वाला कामदेव और सर्पों में वासुकि मैं हूँ ॥ २८ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ २९ ॥

अनंत इति । नागानामनेकशिरसाम् । अनंतः शेषनागः । यादसां जलजंतूनां पतिः । वरुणश्चाहमस्मि । पितॄणाम् । अर्यमा । संयतां संयमनं कुर्वंताम् । यमश्चाहमस्मि ॥ २९ ॥

नागों में अनन्त (शेषनाग) हूँ, जलचरों का राजा वरुण मैं हूँ, पितरों में अर्यमा और दण्ड देने वालों में यम हूँ ॥ २९ ॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ ३० ॥

प्रह्लाद इति । दैत्यानाम् । प्रह्लादः । कलयतां संहर्तॄणाम् । कालश्चाहमस्मि । मृगाणाम् । मृगेंद्रः सिंहः । पक्षिणाम् । वैनतेयो गरुडश्चाहमस्मि ॥ ३० ॥

मैं दैत्यों में प्रह्लाद हूँ, गिनती करने वालों में काल, मृगों में मृगेन्द्र (सिंह) और पक्षियों में गरुड़ मैं हूँ ॥ ३० ॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ ३१ ॥

पवन इति । पवतां पवित्रीकुर्वंताम् । पवनो वायुरहमस्मि । शस्त्रभृताम् । रामो दाशरथिश्चाहमस्मि । ममावतारोऽस्तीत्यर्थः । झषाणां मत्स्यानाम् । मकरः । स्रोतसां नदीनाम् । जाह्नवी चाहमस्मि ॥ ३१ ॥

मैं गमन करने वालों में पवन और शस्त्रधारियों में राम हूँ, मछलियों में मगर और नदियों में श्रीगङ्गाजी मैं हूँ ॥ ३१ ॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ ३२ ॥

सर्गाणामिति । हे अर्जुन । सर्गाणां सृष्टीनाम् । आदिः कारणम् । अंतो लयः । मध्यं स्थितिश्च । तत्तत्कर्तृप्रेरक इत्यर्थः । अहमेवास्मि । विद्यानाम् । अध्यात्मविद्यानाम् । प्रवदतां शास्त्रवादं कुर्वंताम् । वादो ब्रह्मवादश्चाहमस्मि ॥ ३२ ॥

अर्जुन ! सर्गों का आदि, मध्य और अन्त मैं ही हूँ । विद्याओं में अध्यात्म-विद्या और विवाद करने वालों में वाद मैं हूँ ॥ ३२ ॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अक्षराणामिति । अक्षराणाम् । अकारः । सामासिकस्य समाससमूहस्य । द्वंद्वो द्वंद्वसमासश्च । अहमस्मि । अक्षयोऽन्तरहितः । कालः । विश्वतोमुखः सर्वद्रष्टा । धाता शुभाशुभकर्मफलदाता च । अहमेवास्मि ॥ ३३ ॥

अक्षरों में अकार और समासों के समूह में द्वन्द्वनामक समास हूँ । मैं ही अक्षय काल हूँ, मैं ही चारों ओर सुख वाला विधाता (ब्रह्मा) हूँ ॥ ३३ ॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥ ३४ ॥

मृत्युरिति । सर्वंहरः । । मृत्युः । भविष्यतामभ्युदयिष्यताम् । उद्भवोऽभ्युदयश्च । नारीणां देवीनाम् । कीर्त्तिः । श्रीः । वाक् । स्मृतिः । मेधा । धृतिः । क्षमा च । अहमस्मि ॥ ३४ ॥

सबका हरण करने वाला मृत्यु और उत्पन्न होने वालों की उत्पत्तिरूपी कर्म मैं हूँ । नारियों में श्री, कीर्ति, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा मैं हूँ ॥३४॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥

बृहदिति । तथा । साम्नां बृहत्सामछंदसाम् । गायत्रीछंदश्चाहमस्मि । मासानाम् । मार्गशीर्षः ऋतूनां कुसुमाकरो वसंतश्चाहमस्मि ॥ ३५ ॥

मैं सामों में बृहत्साम, छन्दों में गायत्री, मासों में मार्गशीर्ष और ऋतुओं में वसन्त ऋतु मैं हूँ ॥ ३५ ॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥ ३६ ॥

द्युतमिति । छलयताम् । तेजस्विनाम् । तेजश्च अहमस्मि । जयो जयकर्तॄणां स चाहमस्मि । व्यवसाय उद्यमवतामव्यभिचार्युद्यमो निश्चयो वा । सत्त्ववतां सात्त्विकानाम् । सत्त्वं चाहमस्मि ॥ ३६ ॥

छल करने वालों का जूआ, तेजस्वियों का तेज, (जीतने वालों की) जीत, (निश्चय करने वालों का) निश्चय और सत्त्वशीलों का सत्त्व मैं हूँ ॥ ३६ ॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥ ३७ ॥

वृष्णीनामिति । वृष्णीनां यदूनाम् । वासुदेवोऽहं स्वयमस्मि । पांडवानाम् । धनंजयस्त्वम् । मुनीनाम् । व्यासो मुनिः । कवीनाम् । उशनाः शुक्राचार्याख्यः कविश्च । अहमस्मि ॥ ३७ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मैं वृष्णियों में (वसुदेव पुत्र) वासुदेव तथा पाण्डवों में अर्जुन हूँ; मुनियों में भी मैं व्यास और कवियों में उशना कवि (शुक्राचार्य) हूँ ॥ ३७ ॥

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥

दंड इति । दमयतां धर्मव्यतिक्रमे दंडकर्तॄणाम् । दंडः । अहमस्मि । जिगीषतां जयमिच्छताम् । नीतिर्जयसाधनमहमस्मि । गुह्यानाम् । मौनं योग्यभाषणम् । ज्ञानवताम् । ज्ञानं चाहमेवास्मि ॥ ३८ ॥

दण्ड देने वालों का दण्ड हूँ, जय की इच्छा वालों की नीति हूँ, गुह्यों में मौन और ज्ञान वालों का ज्ञान मैं ही हूँ ॥ ३८ ॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ३९ ॥

यच्चेति । हे अर्जुन । किं बहूक्त्या । सर्वाणि यानि भूतानि ब्रह्मादिस्थावरांतानि तेषाम् । यत् । बीजं मूलकारणम् । तदपि । अहमस्मि । चराचरम् । यत् । भूतं शरीरं शरीरितया स्थितप्राणिवृंदम् । अस्ति । तत् । अंतर्यामितया स्थिते न मया विनानि । न स्यादेव ॥ ३९ ॥

अर्जुन ! जो भी सारे भूतों का बीज है, वह मैं हूँ । ऐसा कोई भी चराचर पदार्थ नहीं है, जो मेरे बिना हो ॥ ३९ ॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥

नेति । हे परंतप । मम दिव्यानाम् । विभूतीनाम् । अंत इयत्ता । नास्ति एषः । विभूतेः । विस्तरस्तु । मया । उद्देशतः संक्षेपेण । प्रोक्तः ॥ ४० ॥

परंतप अर्जुन ! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है, यह विभूतियों का विस्तार तो मेरे द्वारा संक्षेप से कहा गया है ॥ ४० ॥

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥ ४१ ॥

यद्यदिति । यद्यदेव । सत्त्वं प्राणिवृंदम् । विभूतिमद्रक्षणसंयमनादिसामर्थ्यवत् । श्रीमल्लक्ष्मीवत् । वा । ऊर्जितमुत्कृष्टं चास्ति । तत्तत्क्षेत्रज्ञजातम् । मम । तेजसः प्रतापादेरंशेन संभवो यस्य तथाभूतमेव । त्वम् । अवगच्छ जानीहि ॥ ४१ ॥

जो-जो भी विभूतिमान्, श्रीमान् और ऊर्जित हैं, वह-वह तू मेरे ही तेज के अंश से उत्पन्न हुआ जान ॥ ४१ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

अथेति । हे अर्जुन । अथवा । एतेन । बहुना । ज्ञानेन विभूतिवेदनेन । तव । किं न किमपि । इदम् । कृत्स्नं समग्रम् । जगदिति । एकांशेन मम गुणैश्वर्याणामयुतायुत-संयुक्तेन प्रकृतिपराक्षरपुरुषेण । अवष्टभ्य व्याप्य धृत्वा वा । अहं स्थितः ॥ ४२ ॥

इति श्रीभगवद्गीताटीकायामन्वयार्थदीपिकायां दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

अथवा अर्जुन ! इस बहुत जानने से तुझे क्या (प्रयोजन) है ? इस सम्पूर्ण जगत् को मैं (अपने) एक अंश से धारण करके स्थित हूँ ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथैकादशोऽध्यायः

विश्वरूपदर्शनात्मयोग एकादशो स्फुटम् ।
प्रोक्तो वीक्ष्याऽर्जुनोरुयमव्यग्रः प्रकृतिं गतः ॥ १ ॥

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥

मदनुग्रहायेति । हे भक्तवत्सल । मयि योऽनुग्रहस्तस्मै । परमं श्रेष्ठम् । गुह्यं गोप्यं च । अध्यात्मसंज्ञितं देहात्मपरमात्मविवेकविषयम् । वचः यत् । त्वया । उक्तम् । मे मम । अयं बुद्धिस्थः मोहः । विगतो विनष्टः ॥ १ ॥

अर्जुन ने कहा—मेरे अनुग्रह के लिये अध्यात्म नामक जो परमगुह्य वचन आपने कहा है, उससे मेरा यह मोह दूर हो गया है ॥ १ ॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥

भवेति । हे कमलपत्राक्ष । त्वत्तः । मया । भूतानाम् । भवाप्ययौ जन्मनाशौ । विस्तरशो विस्तरेण । श्रुतौ हि । अव्ययं स्थिरम् । माहात्म्यं तव महिमा । अपि । श्रुतं च २॥

कमलपत्राक्ष ! आप से भूतों की उत्पत्ति एवं प्रलय होते हैं, यह बात और आप का अविनाशी माहात्म्य भी निस्सन्देह मेरे द्वारा विस्तारपूर्वक सुने गये ॥२॥

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

एवमिति । हे परमेश्वर । यथा । त्वम् । आत्मानं सर्वोत्कृष्टं स्वम् । आत्थ वदसि । एतदिदं सर्वमित्थमस्ति । तथापि । हे पुरुषोत्तम । ते तव । ऐश्वरमनेकैश्वर्ययुक्तम् । रूपम् । द्रष्टुम् । इच्छामि ॥ ३ ॥

परमेश्वर ! जैसा आप अपने को बतलाते हैं, यह ऐसा ही है, (इसलिये) पुरुषोत्तम ! मैं आपके ऐश्वर रूप को देखना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मन्यस इति । यदि । त्वम् । मंन्यसे । ततस्तर्हि । हे योगेश्वर । त्वम् । मे मह्यम् । अव्ययम् । आत्मानं सर्वाधारभूतं स्वस्वरूपम् । दर्शय ॥ ४ ॥

प्रभो ! यदि आप ऐसा मानते हैं कि मेरे द्वारा वह (आप का ऐश्वर्य-सम्पन्न रूप) देखा जाना संभव है तो योगेश्वर ! आप मुझे अपने रूप को पूर्णतया दिखलाइये ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥

एवं प्रार्थितः श्रीहरिस्तद्रूपं दर्शयन्सन्नाह चतुर्भिः । पश्येति । हे पार्थ । शतशः । सहस्रशः । नानाविधानि । नानावर्णाः शुक्लादय आकृतयो दीर्घपुष्टादयश्च येषां तानि । दिव्यानि । मे मम । रूपाणि । त्वम् । पश्य ॥ ५ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—अर्जुन ! तू मेरे नाना प्रकार के दिव्य, नानावर्ण और आकार वाले सैकड़ों तथा हजारों रूपों को देख ॥ ५ ॥

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥

पश्येति । हे भारत । आदित्यान् । वसून् । रुद्रान् । अश्विनौ । मरुतो वायुश्च । पश्य । तथा । अदृष्टपूर्वाणि । बहूनि । आश्चर्याणि । पश्य सर्वं ममैकदेहे त्वं विलोकय ॥ ६ ॥

अर्जुन ! आदित्यों, वसुओं, रुद्रों, अश्विनीकुमारों और मरुतों को तू देख और बहुत-से पूर्व में (इससे पहले) न देखे हुए आश्चर्यमय रूपों को देख ॥ ६ ॥

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

इहेति । हे गुडाकेश । इहास्मिन् । मम । देहे । एकस्थमेकप्रदेशस्थितम् । सचराचरम् । कृत्स्नम् । जगत् । अद्य । त्वं पश्य । यत् । अन्यज्जयपराजयादिकं च । द्रष्टुम् । नेच्छसि । तदपि पश्य ॥ ७ ॥

गुडाकेश ! तू आज यहाँ मेरे शरीर के एकदेश में स्थित चराचर के सहित समूचे जगत् को तथा और भी जो कुछ देखना चाहता है (उसे) देख ॥ ७ ॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

न त्विति । अनेन प्राकृतेनैव । स्वचक्षुषा तु । माम् । द्रष्टुम् । न शक्यसे समर्थो न भवसि । अतः । ते तुभ्यम् । दिव्यम् । चक्षुर्दृष्टिम् । अहं ददामि । तेन । मे मम । योगं गुणगणसंयोगम् । ऐश्वर्यमनंतविभूतिमत्त्वं च । त्वं पश्य ॥ ८ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परन्तु अपने इसी नेत्र से तू मुझे देखने में समर्थ नहीं है। (अत एव) मैं तुझे दिव्य नेत्र देता हूँ (उनसे) तू मेरे ऐश्वर्ययोग और विभूतियोग को भी देख ॥ ८ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

एवमिति। हे राजन् महायोगेश्वरः। हरिः। एवम्। उक्त्वा। ततः। पार्थायार्जुनाय। परमं महत्। ऐश्वरं महाविभूतियुक्तम्। रूपम्। दर्शयामास ॥ ९ ॥

संजय ने कहा—राजा धृतराष्ट्र! इतना कहकर उसके बाद महायोगेश्वर हरि ने अर्जुन को अपना परम ऐश्वर रूप दिखलाया ॥ ९ ॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥

कथंभूतं तदित्यत्राह। अनेकेति। अनेकानि वक्त्राणि नयनानि च यस्मिंस्तत्। अनेकानामद्भुतानामाश्चर्याणां दर्शनं यस्मिंस्तत्। अनेकानि दिव्याभरणानि यस्मिंस्तत्। दिव्यान्यनेकान्युद्यतान्यायुधानि यस्मिंस्तच्च ॥ १० ॥

(वह रूप) अनेक मुख-नेत्रों वाला, अनेक अद्भुत दर्शन वाला, अनेक दिव्य भूषणों वाला और अनेक दिव्य शस्त्रों को उठाये हुए ॥ १० ॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

दिव्येति। दिव्यमालांबरधरम्। दिव्यगंधानुलेपनम्। सर्वाश्चर्यमयम्। देवं द्योतमानम्। अनंतम्। विश्वतः सर्वतो मुखानि यस्मिंस्तच्च ॥ ११ ॥

दिव्य माला-वस्त्र धारण किये हुए, दिव्य गन्ध लेपन किये हुए सब प्रकार से आश्चर्यमय, प्रकाशमय, अनन्तरूप और सब ओर मुख वाला था ॥ –११ ॥

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥ १२ ॥

दिवीति। दिवि खे। सूर्यसहस्रस्य। भाः प्रभा। यदि। युगपत्। उत्थिता। भवेत्। तर्हि। सा सहस्रार्कप्रभा। महात्मनः। तस्य रूपस्य। भासः प्रकाशस्य। सदृशी। स्यात्। यस्या अनोपमानस्यादित्यर्थः ॥ १२ ॥

आकाश में यदि सहस्र सूर्यों की प्रभा एक साथ उदय हो जाय, तो वह उस महात्मा की प्रभा के सदृश शायद हो सकती है ॥ १२ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥

तत्रेति । तदा । पांडवोऽर्जुनः । देवदेवस्य श्रीकृष्णस्य । तत्र तस्मिन् । शरीरे स्वरूपे । अनेकधा । प्रविभक्तम् । कृत्स्नम् । जगत् । एकस्थमेकप्रदेशस्थितम् । अपश्यत् ॥ १३ ॥

तब अर्जुन ने वहाँ देवदेव (श्रीकृष्ण) के शरीर में एकदेश में स्थित अनेक प्रकार से विभक्त हुए समस्त जगत् को देखा ॥ १३ ॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ १४ ॥

तत इति । ततः । विस्मयाविष्टः । हृष्टरोमाञ्चः । सः । धनंजयः । देवं श्रीकृष्णम् । शिरसा । प्रणम्य । कृतांजलिः सन् । अभाषत ॥ १४ ॥

तब वह विस्मय से पूर्ण और रोमाञ्च से युक्त अर्जुन श्रीकृष्ण को सिर से प्रणाम करके हाथ जोड़े हुए बोला—॥ १४ ॥

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥

पश्यामीति । हे देव । तव । देहे । सर्वानिंद्रादीन् । देवान् । तथा । भूतविशेषा ये जरायुजादयस्तेषां संघान् । कमलासनस्थम् । ब्रह्माणम् । ईशं महादेवम् । सर्वान् । दिव्यान् । ऋषीन्भृग्वादीन् । उरगांस्तक्षकादींश्च । अहं पश्यामि ॥ १५ ॥

अर्जुन ने कहा—देव ! आपके देह में सब देवताओं को, प्राणियों के विभिन्न समूहों को, ब्रह्मा को, कमलासन ब्रह्मा के मत में रहने वाले महादेव को, समस्त ऋषियों को और तेजस्वी सर्पों को मैं देख रहा हूँ ॥ १५ ॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥ १६ ॥

अनेकेति । हे विश्वेश्वर । विश्वं रूपं शरीरं यस्य तम् । अनेके बाहव उदराणि वक्त्राणि नेत्रं च यस्य तम् । अनंतमंतवर्जितं रूपं स्वरूपं यस्य तम् । त्वाम् । सर्वतः । पश्यामि । तव । अंतं न मध्यं च न । पुनः । आदिं च । न पश्यामि ॥ १६ ॥

आपको मैं अनेक बाहु, उदर, मुख, नेत्रों से युक्त तथा सब ओर से अनन्त रूप वाले देख रहा हूँ । विश्वेश्वर ! विश्वरूप ! मै न आपके अन्त को देख पाता हूँ, न मध्य को और न आदि को ही ॥ १६ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ १७ ॥

अथ ब्रह्मतेजःपुंजे पुरुषोत्तमत्वेनैनं पश्यन्नाह किरीटिनमिति । सर्वतः । दीप्तिः प्रकाशो विद्यतेऽस्य तम् । अतः । समंतात् । दीप्ता येऽनलार्का अनेककोट्यग्निसूर्यास्तेषां द्युतिरिव द्युतिः प्रकाशो यस्य तम् । अतः । अप्रमेयम् । तेजोराशिं ब्रह्मज्योतिरहं पश्यामि । चकारात्तत्र स्थितं किरीटिनं मुकुटधारिणम् । गदिनं चक्रिणं च भुजाभ्यां गदाचक्रधारिणम् । दुर्निरीक्ष्यं कैवल्यार्थिभिर्दुःप्रेक्ष्यं च । त्वाम् । अहं पश्यामि ॥ १७ ॥

तेज के पुञ्ज, सब ओर से देदीप्यमान, सब ओर से कठिनतापूर्वक देखे जाने वाले, प्रज्वलित अग्नि तथा सूर्य की-सी प्रभा वाले और अप्रमेय स्वरूप आपको मैं किरीट, गदा एवं चक्र धारण किये देखता हूँ ॥ १७ ॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥

त्वमिति । वेदितव्यम् । परममक्षरमक्षरात्परतः पर इति श्रुत्युक्तपुरुषोत्तमः । त्वम् । असि । अस्य । विश्वस्य । परं श्रेष्ठम् । निधानमाधारः । त्वमसि । अव्ययः । शाश्वतो वेदोक्तो यो धर्मस्तस्य गोप्ता । त्वमसि । सनातनः । पुरुषः परमपुरुषः त्वमेवेति । मे मतो मयाऽनुभूतोऽसि ॥ १८ ॥

आप जानने योग्य परम अक्षर हैं; आप इस विश्व के परम निधान हैं; आप अविनाशी हैं, शाश्वत धर्म के रक्षक हैं और सनातन पुरुष हैं। इस प्रकार मैंने आपको जाना है ॥ १८ ॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥ १९ ॥

पुनस्तं विश्वरूपेण दृष्ट्वाऽऽह । अनादीति । अनादिमध्यांतमादिमध्यावसानवर्जितम् । अनंतानि वीर्याणि पराक्रमादिगुणा यस्य तम् । अनंतबाहुम् । शशिसूर्यनेत्रम् । दीप्तहुताशवक्त्रम् । स्वतेजसा । इदम् । विश्वम् । तपंतं तापयंतम् । त्वामहम् । पश्यामि ॥ १९ ॥

मैं आपको आदि, मध्य और अन्त से रहित, अनन्त शक्तिशाली और अनन्त भुजाओं से युक्त चन्द्र-सूर्य के समान नेत्र वाले, प्रज्वलित अग्नि के समान मुखवाले और अपने तेज से इस विश्व को तपाते हुए देख रहा हूँ ॥ १९ ॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ २० ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्यावेति । हे महात्मन् । एकेन । त्वया । द्यावापृथिव्योः । इदम् । अंतरमंतरालम् । व्याप्तम् । सर्वाः । दिशश्च व्याप्ताः । हि । अद्भुतम् । उग्रम् । तव । इदम् । रूपम् । दृष्ट्वा । लोकत्रयम् । प्रव्यथितम् । सर्वलोका भयमाप्नुवंतीत्यर्थः ॥ २० ॥

महात्मन् ! द्युलोक और पृथ्वी का यह मध्य भाग और सारी दिशाएँ एक आप से ही व्याप्त हैं। आपके इस अद्भुत, उग्र रूप को देखकर तीनों लोक व्यथित हो रहे हैं ॥ २० ॥

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

अमीति । अमी । सुरसंघाः । त्वाम् । विशंति ध्यायन्ति हि । भीताः । केचिद्देवाः । प्रांजलयः संतः । गृणंति स्तुवंति महर्षीणां सिद्धानां च संघाः । स्वस्ति । इति । उक्त्वा । पुष्कलाभिः । स्तुतिभिः त्वाम् । स्तुवंति ॥ २१ ॥

ये देवताओं के संघ आप में ही समा रहे हैं। कितने ही भयभीत हुए हाथ जोड़े स्तुति कर रहे हैं। महर्षियों और सिद्धों के संघ 'कल्याण हो' ऐसा कहकर आपके अनुरूप बड़ी-बड़ी स्तुतियों से आपका स्तवन कर रहे हैं ॥ २१ ॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ २२ ॥

रुद्रादित्या इति । ये च । रुद्राश्चादित्याश्च ते । वसवः साध्याः । विश्वे विश्वेदेवाः । अश्विनौ । मरुतः । ऊष्मपाः पितरः । गंधर्वाश्च यक्षाश्च ते । सुरसिद्धसंघाश्च । सर्वे । एव । विस्मिताः संतः । त्वाम् । वीक्षंते ॥ २२ ॥

रुद्र, आदित्य, वसु, साध्य, विश्वेदेव, दोनों अश्विनीकुमार, मरुत, ऊष्मपा (पितृगण), गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धों के समूह—ये सब-के-सब विस्मित हुए आपको देख रहे हैं ॥ २२ ॥

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥ २३ ॥

रूपमिति । हे महाबाहो । बहुवक्त्रनेत्रम् । बहवो बाहव उरवः पादाश्च यस्मिंस्तत् । बहुदंष्ट्राभिः करालम् । महदतिविस्तरं च । ते तव । रूपम् । दृष्ट्वा लोकाः । प्रव्यथिता भीता भवंति । तथा । अहं च बिभेमि ॥ २३ ॥

महाबाहो ! बहुत मुख-नेत्रों वाले, बहुत भुजा, जाँघ और पैरों वाले, बहुत उदर वाले और बहुत-सी दाढ़ों के कारण भयानक आकार वाले, आपके महान् रूप को देखकर ये लोक और मैं सभी अत्यन्त व्यथित हो रहे हैं ॥ २३ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥ २४ ॥

अन्यच्च भवतीत्याह । नभ इति । हे विष्णो । नभः स्पृशतीति तथोक्तम् । दीप्तप्रकाशबहुलम् । अनेके वर्णाश्च शुक्लादयो यस्य तम् । व्यात्ताननम् । दीप्तविशालनेत्रं च । त्वाम् । दृष्ट्वा । प्रव्यथितांतरात्मा भीतमना अहम् । धृतिर्धैर्यम् । शमं शांतिं च । न विंदामि नाप्नोमि हि ॥ २४ ॥

विष्णो ! आपको नभःस्पर्शी, प्रकाशमान, अनेक वर्णोंवाला, फैलाये हुए मुखों वाला और प्रज्वलित विशाल नेत्रों वाला देखकर अत्यन्त व्यथित चित्त हुआ मैं निस्सन्देह धृति और शान्ति को नहीं पा रहा हूँ ॥ २४ ॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ २५ ॥

दंष्ट्रेति । हे जगन्निवास । कालानलसन्निभानि । दंष्ट्राभिः करालानि च । ते तव । मुखानि । दृष्ट्वैव । अहम् । दिशः । न जाने । शर्म सुखं च । न लभे नाप्नोमि । अतः । हे देवेश । प्रसीद त्वं प्रसन्नो भव ॥ २५ ॥

आपके प्रलयानल के समान और विकराल दाढ़ों वाले मुखों को देखकर न मुझे दिशाएँ सूझती हैं और न शान्ति ही पाता हूँ । जगन्निवास ! देवेश ! आप प्रसन्न होइये ॥ २५ ॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ २६ ॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥ २७ ॥

अमीति । किंच । अवनिपालानां राज्ञां संघैः । सहैव । अमी । धृतराष्ट्रस्य । पुत्राः । तथा । योधमुख्यैः । अपि । अस्मदीयैर्धृष्टद्युम्नादिभिः सह । असौ । भीष्मः द्रोणः । सूतपुत्रः करणश्च । एते सर्वे । त्वां प्रति ॥ २६ ॥

वक्त्राणीति । त्वरमाणाः संतः । दंष्ट्राकरालानि । भयानकानि । ते तव । वक्त्राणि विशंति । तेषु मध्ये केचित् । दशनांतरेषु दंतांतरालेषु । विलग्नाः संतः । चुर्णितैर्भग्नैः । उत्तमांगैर्मस्तकैः संदृश्यंते । इति द्वयोरेकसंबंधः ॥ २७ ॥

ये धृतराष्ट्र के समस्त पुत्र भी सभी राजाओं के समूहों के साथ तथा भीष्म, द्रोण और वह सूतपुत्र (कर्ण) भी हमारे मुख्य योद्धाओं के साथ बड़ी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जल्दी से आपके विकराल और भययंकर दाढ़ों वाले मुखों में घुसे चले जाते हैं। कितने ही तो चूर्ण हुए सिरों के साथ दाँतों के दराजों में लगे दिखायी देते हैं ॥ २६–२७ ॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥ २८ ॥
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ २९ ॥

यथेति । नदीनाम् । बहवः । अंबुवेगाः । अभिमुखाः संतः । यथा । समुद्रमेव । द्रवंति । तत्रैव प्रविशंतीत्यर्थः । तथा । अमी सेनयोः स्थिताः । नरलोकवीराः । अभीतो विज्वलंति । तव । वक्त्राणि प्रति । विशंति ॥ २८ ॥

यथेति । यथा । पतंगाः । संमृद्धवेगाः संतः । नाशाय मृत्यवे । प्रदीप्तम् । ज्वलन-मग्निम् । विशंति । तथैव । लोका अमी सैनिका अपि । समृद्धवेगाः संतः । नाशाय । तव । वक्त्राणि विशंति ॥ २९ ॥

जैसे नदियों के बहुत-से जलप्रवाह समुद्र की ओर मुख किये दौड़े जाते हैं, वैसे ही ये नरलोक के वीर आपके सब ओर से प्रज्वलित मुखों में घुसे जाते हैं। जैसे पतङ्ग अपने नाश के लिये पूरे वेग से प्रज्वलित अग्निज्वाला में प्रवेश करते हैं वैसे ही ये लोग भी पूरे वेग से अपने नाश के लिये आपके मुखों में प्रवेश कर रहे हैं ॥ २८–२९ ॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥ ३० ॥

लेलिह्यस इति । हे विष्णो । समग्रान् । लोकान् । ज्वलद्भिः । वदनैः । समंतात् । ग्रसमानः । सन् । त्वम् । लेलिह्यसे । तव । उग्राः । भासः किरणाः । तेजोभिः । समग्रम् । जगत् । आपूर्य व्याप्य । प्रतपन्ति परितापयंति ॥ ३० ॥

विष्णो ! आप अपने प्रज्वलित मुखों से सब ओर से सभी लोगों को अपना ग्रस बनाते हुये (उनके रुधिर से भींगे अपने ओठों को) जीभ से बारंबार चाट रहे हैं। और आपकी उग्र प्रभा (किरण) अपने तेज से सम्पूर्ण जगत् को परिपूर्ण करके तपा रही है ॥ ३० ॥

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ३१ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ प्रश्नं कुर्वन्नाह । आख्याहीति । उग्ररूपः । भवान् । कोऽसि । मे मह्यम् । आख्याहि । हे देववर । ते तुभ्यम् । नमः । अस्तु । प्रसीद । अहम् । आद्यम् । भवंतम् । विज्ञातुम् । इच्छामि । तव । प्रवृत्तिम् । न हि । प्रजानामि ॥ ३१ ॥

मुझे बतलाइये कि उग्ररूपधारी आप कौन हैं ? आपको नमस्कार हो । देवश्रेष्ठ ! आप प्रसन्न होइये । आप आदि पुरुष को मैं जानना चाहता हूँ, क्योंकि आपकी प्रवृत्ति को मैं नहीं जानता हूँ ॥ ३१ ॥

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥ ३२ ॥

काल इति । लोकानां क्षयकृन्नाशकर्त्ता । प्रवृद्धो वृद्धिं प्राप्तोऽहम् । कालोऽस्मि । लोकान्भूमिभारभूताञ्जनान् । समाहर्त्तुम् । इह लोके । प्रवृत्तोऽस्मि । अतः प्रत्यनीकेषु सर्वसैन्येषु । ये । अवस्थिताः । योधा योद्धारः संति । ते । त्वा । ऋते तवोद्यमं विनाऽपि । न भविष्यंति न जीविष्यंति । यद्वा । त्वां विना केऽपि न जीविष्यंति ॥ ३२ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—मैं लोकों का नाश करने वाला बढ़ा हुआ काल हूँ । लोकों का संहार करने के लिये यहाँ प्रवृत्त हुआ हूँ । तेरे बिना भी, ये सब योद्धा, जो प्रतिपक्षी सेना में स्थित हैं, नहीं बचेंगे ॥ ३२ ॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥

तस्मादिति । हे सव्यसाचिन् । यस्मादेवम् । तस्माद्धेतोः । त्वम् । उत्तिष्ठ संग्रामाय सज्जो भव । यशः । लभस्व । शत्रून् । जित्वा । समृद्धम् । राज्यम् । भुंक्ष्व । एते तव शत्रवः । पूर्वमेव मयैव । निहता हतप्रायाः कृताः । अतस्त्वम् । निमित्तमात्रम् । भव ॥ ३३ ॥

इसलिये अर्जुन ! तू उठ, शत्रुओं को जीत कर यश को प्राप्त कर और समृद्ध राज्य को भोग । मेरे द्वारा ये सब पहले से ही मारे हुए हैं, तू निमित्त मात्र हो जा ॥ ३३ ॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥ ३४ ॥

द्रोणमिति । द्रोणम् । भीष्मं च । जयद्रथं च । कर्णं च । तथा । अन्यानपि । मया हतान् । योधवीरान् । त्वम् । जहि । मा व्यथिष्ठा व्यथां मां कृथाः । रणे । सपत्नान् । त्वं जेतासि । अतस्त्वं युध्यस्व ॥ ३४ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण और अन्य भी वीर योद्धा, (जो पहले ही मेरे द्वारा मारे हुए हैं) उन मेरे द्वारा मारे हुओं को तू मार, घबड़ा मत, युद्ध कर, रण में शत्रुओं को तू जीतेगा ॥ ३४ ॥

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ३५ ॥

एतदिति । केशवस्य श्रीकृष्णस्य । एतत् । वचनम् । श्रुत्वा । कृतांजलिः । किरीटी अर्जुनः । वेपमानः सन् । कृष्णम् । नमस्कृत्वा । भीतभीतोऽसकृद्भयं प्राप्तः सन् । प्रणम्य नम्रो भूत्वा । भूयः पुनरेव । सगद्गदं यथा तथा । आहाब्रवीत् ॥ ३५ ॥

संजय ने कहा—केशव के इस वचन को सुनकर अर्जुन हाथ जोड़े हुए काँपता हुआ, नमस्कार करके और डरते-डरते पुनः प्रणाम करके श्रीकृष्ण से गद्गद वाणी द्वारा इस प्रकार कहने लगा—॥ ३५ ॥

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः ॥ ३६ ॥

स्थान इति । हे ऋषीकेश । तव । प्रकीर्त्या यशःकीर्त्तनेन । जगत्सर्वविश्वम् । प्रहृष्यति । अनुरज्यतेऽनुरागं करोति च । यत्तत् । स्थाने युक्तमेव । भीतानि । रक्षांसि । दिशः प्रति । द्रवंति । सर्वे । सिद्धसंघाः नमस्यंति च ॥ ३६ ॥

अर्जुन ने कहा—इन्द्रियों के स्वामी परमेश्वर यह ! उचित है कि आपके यशकीर्तन से जगत् अत्यन्त हर्षित और अनुराग को प्राप्त हो रहा है । राक्षस लोग भयभीत हुए दिशाओं को भाग रहे हैं और समस्त सिद्धों के समूह आपको नमस्कार कर रहे हैं ॥ ३६ ॥

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥

कस्मादिति । हे अनंत । हे देवेश । हे जगन्निवास । ब्रह्मणोऽक्षरब्रह्मणोऽपि । गरीयसे श्रेष्ठतमाय । अतः । आदिकर्त्त्रे । ते तुभ्यम् । कस्माद्धेतोः । न नमेरन्पूर्वोक्तास्ते वंदनं न कुर्युः । हे महात्मन् । सत्सगुणं ब्रह्म असन्निर्गुणं ब्रह्म ताभ्याम् । परमुत्कृष्टम् । यत् । न क्षरतीत्यक्षरं पुरुषोत्तमरूपम् । तत् । त्वमसि ॥ ३७ ॥

महात्मन् ! ब्रह्मा के भी आदि कारणभूत कर्ता और सबसे महान आप परमेश्वर को वे क्यों नमस्कार न करें । अनन्त ! देवेश ! जगन्निवास ! आप अक्षर, सत्, असत् और इससे भी जो परे हैं, वह हैं ॥ ३७ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥

त्वमिति । हे अनंतरूप । त्वम् । आदिदेवः । पुराणः । पुरुषोऽसि । त्वम् । अस्य । विश्वस्य । परं निधानं श्रेष्ठाधारोऽसि । त्वम् । वेत्ता ज्ञाता । वेद्यम् । परं धाम प्राप्योत्कृष्टस्थानं चासि । त्वया सर्वात्मना भवता । विश्वम् । ततं व्याप्तं च ॥ ३८ ॥

आप आदि देव, पुरातन पुरुष, इस विश्व के परम निधान, (सबके) जानने वाले हैं और जानने योग्य तथा परमधाम भी आप ही हैं। अनन्त रूप ! आपसे यह सम्पूर्ण विश्व व्याप्त है ॥ ३८ ॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥

वायुरिति । वायुः । यमः अग्निः । वरुणः । शशांकः । प्रजापतिः । प्रपितामहश्चत्वमसि । ते तुभ्यम् । सहस्रकृत्वः । नमोनमोऽस्तु । पुनः । भूयश्चापि । ते तुभ्यम् । नमोनमोऽस्तु ॥ ३९ ॥

आप वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजापति और प्रपितामह हैं। आपको सहस्र-सहस्र नमो नमः (नमस्कार) है और फिर बार-बार आपको नमो नमः (नमस्कार) है ॥ ३९ ॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥

नम इति । हे सर्वसमग्रशरीरिन् । हे अनंतवीर्य । पुरस्तादग्रतः । अथ । पृष्टतः । ते तुभ्यम् । नमोऽस्तु । सर्वत्रैव । ते नमः । अमितविक्रमः । त्वम् । सर्वम् । समाप्नोषि साक्षितया व्याप्नोषि । ततः सर्वः सर्वशब्दवाच्योऽसि ॥ ४० ॥

सर्वरूप ! आपको आगे से, पीछे से तथा सभी ओर से बार-बार नमस्कार है। आप अनन्त शक्ति और अपरिमित पराक्रम वाले हैं, आप सबको व्याप्त कर रहे हैं, अतएव सर्वरूप हैं ॥ ४० ॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥ ४१ ॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथैनं क्षमापयन्नाह । सखेति । सखा त्वं मम सखाऽसि । इति । मत्वा । तव । महिमानम् । इदं प्रत्यक्षदृष्टं विश्वरूपं च । अजानता । मया । प्रमादात् । प्रणयेन प्रेम्णावापि प्रसभं हठात् । हे कृष्ण । हे यादव । हे सखे । इति । यत् उक्तम् ॥ ४१ ॥

यदिति हे अच्युत । तत्पूर्वंश्लोकोक्तम् । यच्च । अवहासार्थं परिहासार्थम् । एकस्त्वम् अथवा तत्समक्षमन्येषां पुरतोऽपि । विहारशय्याऽऽसनभोजनेषु । असत्कृतो मयाऽवमानितोऽसि तत् अहम् अप्रमेयम् । त्वाम् । क्षामये क्षमां कारयामि ॥ ४२ ॥

आपकी इस महिमा को न जाननेवाले मुझ मूढद्वारा प्रमाद से या प्रेमवश 'सखा हैं' ऐसा मानकर जो 'हे यादव ! हे कृष्ण ! हे सखे' ऐसा अविनयपूर्वक कहा गया है तथा परिहास के लिये अकेले में अथवा उन (मित्रों) के सामने चलते, सोते, बैठते और भोजन करते समय मुझसे आपका जो-जो तिरस्कार किया गया है, उस (सब) की हे अच्युत ! आप अप्रमेय परमेश्वर से मैं क्षमा मागता हूँ ॥ ४१–४२ ॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥ ४३ ॥

पितेति । न विद्यते प्रतिमोपमा यस्य तथाभूतः प्रभावो यस्य तस्य बुद्धिः । त्वम् । चराचरस्य । अस्य । लोकस्य । पिता । पूज्यः । गरीयान् श्रेष्ठतरः । गुरुश्च । असि । अतः । लोकत्रये ब्रह्मपुरे महदाकाशे ब्रह्मांडेषु चापि । त्वत्समः । अन्यः नास्ति । अभ्यधिको भवत उत्कृष्टस्तु कुतो भवेत् ॥ ४३ ॥

आप इस चराचर लोक के पिता और गुरु हैं, अतः श्रेष्ठतम परम पूज्य हैं । अप्रतिम प्रभावशाली ! तीनों लोकों में आपके समान भी दूसरा नहीं, (फिर आपसे) बढ़कर तो कहाँ ? ॥ ४३ ॥

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥ ४४ ॥

तस्मादिति । हे देव । यस्मादेवम् । तस्माद्धेतोः । कायम् । प्रणिधाय दंडवद्भूमौ निक्षिप्य । प्रणम्य । ईड्यं स्तुत्यम् । ईशं त्वाम् । अहम् । प्रसादये । अतः पिता । पुत्रस्य । इव प्रियः पतिः प्रियाया इव । त्वं ममापराधम् । सोढुम् । अर्हसि । प्रियायार्हसीत्यत्र संधिरार्षः ॥ ४४ ॥

इसलिये मैं दण्डवत् प्रणाम करके आप स्तुति करने योग्य ईश्वर को प्रसन्न करता हूँ । जैसे पिता पुत्र की, मित्र की मित्र की और पति-पत्नी की (धृष्टता सहता है), वैसे ही देव ! आप प्रियतम को मुझ प्रेमी के लिये सब कुछ सहना उचित है ॥ ४४ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥

अदृष्टेति । हे देव । अदृष्टपूर्वं पूर्वमदृष्टं तव रूपम् । दृष्ट्वा । अहं हृषितोऽस्मि । मे मम । मनश्च । भयेन । प्रव्यथितम् । अतः हे देवेश । हे जगन्निवास । तत्पूर्ववर्त्येव । रूपं स्वस्वरूपम् । मे मह्यम् । दर्शय । प्रसीद च ॥ ४५ ॥

पूर्व में न देखे हुए (रूप) को देखकर मैं हर्षित हो रहा हूँ और भय से मेरा मन अत्यन्त व्यथित हो रहा है । (अतः) देव ! वही रूप मुझको दिखलाइये । देवेश ! जगन्निवास ! प्रसन्न होइये ॥ ४५ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥ ४६ ॥

तदेवरूपं वदति । किरीटिनमिति । चतुर्भुजानामिनः स्वामी तत्संबुद्धिः । हे सहस्रबाहो । हे विश्वमूर्त्ते । किरीटिनम् । गदिनम् । चक्रहस्तं च । त्वाम् । अहम् । तथैव पूर्ववत् । तेनैव रूपेण नृसमानाकारणैव । द्रष्टुम् । इच्छामि अतस्तथाविधो भव ॥ ४६ ॥

मैं आपको वैसा ही मुकुटधारी, गदाधारी और हाथ में चक्र धारण किये देखना चाहता हूँ । सहस्रबाहो ! विश्वमूर्ते ! आप उसी चतुर्भुज रूप से युक्त हो जाइये ॥ ४६ ॥

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥

मयेति । हे अर्जुन । त्वदन्येन त्वतोऽन्येन । न दृष्टपूर्वं पूर्वमदृष्टम् । यत् । तेजोमयम् । विश्वं विश्वात्मकम् । अनंतम् । आद्यम् । परं श्रेष्ठं च । मे मम । इदम् । रूपम् । प्रसन्नेन । मया । आत्मनो मम योगाद्योगसामर्थ्यात् तव । दर्शितम् ॥ ४७ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—अर्जुन ! प्रसन्न हुए मुझ ईश्वर द्वारा तुझको यह मेरा परम तेजोमय, अनन्त, आद्य विश्वरूप अपने सत्यसंकल्परूप योग से दिखलाया गया है, जो तेरे अतिरिक्त किसी दूसरे से पहले नहीं देखा गया ॥ ४७ ॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ ४८ ॥

नेति । हे कुरुप्रवीर एवंरूपः । अहम् । नृलोके । त्वदन्येन जनेन । वेदाश्च यज्ञाः कल्पसूत्रादियज्ञविद्याश्च तेषामध्ययनैः । द्रष्टुं न शक्यः । दानैः । न क्रियाभिः । न । उग्रैः तपोभिश्च । न शक्यः शक्य अहमित्यत्र सन्ध्यभाव आर्षः ॥ ४८ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कुरुकुल के श्रेष्ठ वीर अर्जुन ! मनुष्य लोक में इस प्रकार (विश्व) रुपवाला मैं न तो वेद से, न यज्ञ से, न स्वाध्याय से, न दानों से, न क्रियाओं से और न उग्र तपों से ही तेरे अतिरिक्त दूसरे के द्वारा देखा जा सकता हूँ ॥ ४८ ॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

मेति । इदृक् । घोरम् । मम । इदम् । रूपम् । दृष्ट्वा । ते तव । व्यथा पीडा । मा भवतु । विमूढभावो व्याकुलत्वं च । मा भवतु । व्यपेतभीः । प्रीतमनाश्च । त्वम् । पुनः । तदेव द्विभुजम् । मे मम । इदं नृसदृशम् । रूपम् । प्रपश्य ॥ ४९ ॥

मेरे इस ऐसे घोर रूप को देखकर तुझे व्यथा और मूढभाव नहीं होना चाहिये । भय को छोड़कर और प्रसन्नचित्त होकर तू पुनः मेरे उसी (पहले वाले) रूप को भलीभाँति देख ॥ ४९ ॥

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

इतीति । महात्मा । वासुदेवः । इत्येवम् । अर्जुनं प्रति । उक्त्वा । पुनः । तथा पूर्ववत् । सौम्यवपुः । भूत्वा । भूयः । स्वकम् । रूपम् । दर्शयामास । भीतम् । एनं अर्जुनम् । आश्वासयामास च ॥ ५० ॥

संजय ने कहा—इस प्रकार अर्जुन को कहकर फिर वासुदेव भगवान् ने अपना वैसा (चतुर्भुज) रूप दिखलाया, इस प्रकार महात्मा (श्रीकृष्ण) ने सौम्यरूप होकर इस भयभीत अर्जुन को पुनः धीरज दिया ॥ ५० ॥

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१ ॥

दृष्ट्वेति । हे जनार्दन । सौम्यं नृणां शांतिकरम् । मानुषं तव । इदम् । रूपम् । अहम् । दृष्ट्वा इदानीम् । सचेता अव्याकुलचित्तः । संवृत्तो जातोऽस्मि । प्रकृतिं गतः स्वस्थितिं प्राप्तोऽस्मि ॥ ५१ ॥

अर्जुन ने कहा—जनार्दन ! आपके इस सौम्य मानुष-रूप को देखकर अब मैं सचेत हो गया हूँ और अपनी प्रकृति को प्राप्त हुआ हूँ ॥ ५१ ॥

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः । ५२ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुदुर्दर्शमिति । हे अर्जुन । मम । इदम् । यत् । रूपम् । त्वम् । दृष्टवान् । असि । तत् । सुदुर्दर्शं त्वदन्येन सुतरां द्रष्टुमशक्यम् । अतः । देवाः अपि । अस्य रूपस्य विश्वरूपस्य । नित्यम् । दर्शनकांक्षिणो दर्शनमिच्छंत्येव न पश्यंतीत्यर्थः ॥ ५२ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—जो मेरे इस अति कठिनता से देखे जाने योग्य रूप को तूने देखा है, देवता भी इस रूप के दर्शन की नित्य आकांक्षा करते हैं ॥५२॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ ५३ ॥

नेति । यथा । त्वम् । माम् । दृष्टवान् । असि तथा । एवंविधः । अहम् । वेदैः । द्रष्टुम् । न शक्यः । तपसा न । दानेन । न इज्यया च । न शक्यः ॥ ५३ ॥

अर्जुन ! जैसे तूने मुझको देखा है, उस प्रकार मैं न वेदों से, न तप से, न दान से और न यज्ञ से देखा जा सकता हूँ ॥ ५३ ॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ ५४ ॥

अन्येषां कथमस्य रूपस्येक्षणं स्यादित्याशङ्क्याह । भक्त्येति । हे अर्जुन हे परंतप । एवंविधः । अहम् । अनन्यया मदेकनिष्ठया । भक्त्या तु । द्रष्टुम् । तत्त्वेन । ज्ञातुम् । ध्यानेन प्रवेष्टुं च । शक्योऽस्मि ॥ ५४ ॥

परन्तु परन्तप ! अनन्य भक्ति से मैं इस प्रकार तत्त्व से जाना, देखा और प्रवेश किया जा सकता हूँ ॥ ५४ ॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ ५५ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

मदिति । हे पांडव । मम कर्माणि करोतीति तथोक्तः । अहमेव परमः प्राप्योऽर्थो यस्य सः । संगवर्जितो मद्व्यातिरिक्तेष्वासक्तिरहितः । सर्वभूतेषु । निर्वैरश्च । यः । मद्भक्तः । सः । मां प्रत्यक्षम् । एति प्राप्नोति ॥ ५५ ॥

इति श्रीभगवद्गीताटीकायामन्वयार्थदीपिकायामेकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

पाण्डुकुमार ! जो मेरा कर्म करने वाला, मेरे परायण, मेरा भक्त, संगरहित और सब भूतों में वैररहित है, वह मुझे प्राप्त होता है ॥ ५५ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ द्वादशोऽध्यायः

द्वादशे भक्तियोगोऽत्र स्वस्मिन् श्रीहरिणोदितः।
ब्रह्म परब्रह्म भक्तस्वरूपाद्युक्तिभिः स्फुटम्॥ १॥

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥ १॥

एवमिति। हे भगवन्। एवं मत्कर्मकृदित्याद्युक्तरीत्या सततं युक्तास्त्वत्स्वरूप-संलग्नाः। ये। भक्ताः। त्वाम्। पर्युपासते सम्यग्भजंते। ये च। न व्यज्यते चक्षुरादिभिर्न दृश्यत इत्यव्यक्तम्। अक्षरं ब्रह्म। अपि। पर्युपासते। तेषां मध्ये। के। योगवित्तमाम्। अतिश्रेष्ठा इत्यर्थः॥ १॥

अर्जुन ने कहा—इस प्रकार निरन्तर प्रयत्न में लगे हुए जो भक्त आपकी भलीभाँति उपासना करते हैं और जो अव्यक्त अक्षर की उपासना करते हैं, उनमें उत्तम योगवेत्ता कौन हैं?॥ १॥

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥ २॥

मयीति। मयि। मनः। आवेश्य सम्यङ्निरोध्य। परया। श्रद्धया। उपेता युक्ताः। नित्यं युक्ता मत्संयोगापेक्षाढ्याः संतः। ये माम्। उपासते। ते भक्ताः। मे मया। युक्ततमा अतियोग्याः। मताः॥ २॥

श्रीभगवान् ने कहा—जो परम श्रद्धा के साथ मुझमें मन लगाकर नित्य-युक्त हुए मेरी उपासना करते हैं, वे मुझे योगियों में श्रेष्ठ मान्य हैं॥ २॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥ ३॥

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥ ४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इदानीमक्षरनिष्ठानां स्वरूपं क्लेशाधिक्यं चाह त्रिभिः। य इति। ये तु जनाः। अव्यक्तं निरवयवम्। अनिर्देश्यं प्राकृतपदार्थैः समतया निर्देष्टुं वक्तुमशक्यम्। सर्वत्रगम्। अचिंत्यम्। कूटस्थम्। अचलम्। ध्रुवं नित्यं च। अक्षरं ब्रह्म। पर्युपासते ॥ ३ ॥

संनियम्येति। ते जनाः। इंद्रियग्रामम्। संनियम्य। सर्वत्र मायिकपदार्थेषु। क्षयिष्णुत्वेन समबुद्धयः सर्वभूतहिते रताश्च संतः मां मम स्थानमक्षरब्रह्मैव। प्राप्नुवंति। इति द्वयोरेकसंबंधः ॥ ४ ॥

परन्तु जो इन्द्रिय समूह को भलीभाँति रोककर, सर्वत्र समबुद्धि होकर तथा सम्पूर्ण भूतों के हितों में रत होकर अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वव्यापक, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल और नित्य (आत्मा) की उपासना करते हैं, वे भी मुझे ही प्राप्त होते हैं ॥ ३–४ ॥

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

क्लेश इति। अव्यक्ते ब्रह्मण्यासक्तं चेतो येषाम्। तेषाम्। अधिकत्तरः। क्लेशोऽस्ति। हि यतः। अव्यक्ता गतिरक्षरब्रह्मणि स्थितिः। देहवद्भिः। दुःखं यथा। अवाप्यते ॥ ५ ॥

उन अव्यक्त में आसक्त चित्तवालों को क्लेश अधिकतर होता है; क्योंकि देहाभिमानियों के द्वारा अव्यक्त विषयक मनोवृत्ति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है ॥ ५ ॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥

मद्भक्तानां तु सुखेन मत्प्राप्तिरस्तीत्याह द्वाभ्याम्। य इति। ये तु भक्ताः मयि परब्रह्मणि। सर्वाणि। कर्माणि। संन्यस्य समर्प्य। मत्परा मय्यासक्ताः। नास्ति मां विनाऽन्यदालंबनं यस्मिंस्तथोक्तेन। योगेन भक्तियोगेन। माम्। ध्यायंतश्च संतः। उपासते ॥ ६ ॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

तेषामिति। हे पार्थ। मयि। आवेशितचेतसाम्। तेषां मद्भक्तानाम्। मृत्युनामसहितो यः संसारसागरस्तस्मात्। अहम्। न चिराच्छीघ्रम्। समुद्धर्त्ता। भवति ॥ ७ ॥

परन्तु अर्जुन ! जो समस्त कर्मों का मुझ में संन्यास करके मेरे परायण हुए अनन्य योग से मेरा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, उन मुझ में चित्त को लगाये रखने वालों का मैं मृत्युरूप संसार-सागर से शीघ्र ही भलीभाँति उद्धार करने वाला होता हूँ ॥ ६–७ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

मयीति । अतो हेतोः । त्वम् । मयि । एव । मनः आधत्स्व । मयि । बुद्धिम् । निवेशय । ऊर्ध्वं तदनंतरम् । मयि । एव । निवसिष्यसि निवासं प्राप्स्यसि । अत्र संशयः । नास्ति निवसिष्यसीत्यत्रेड्विधानं एव अत इत्यत्र संध्यभावश्चार्षः ॥ ८ ॥

तू मुझ में ही मन लगा, मुझ में ही बुद्धिको लगा। इसके अनन्तर तू मुझमें ही निवास करेगा—इसमें संशय नहीं है ॥ ८ ॥

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥

अथेति । हे धनंजय । अथाथवा चित्तम् । मयि । स्थिरं यथा स्यात्तथा । सम्यगाधातुं स्थापयितुम् । त्वम् । न शक्नोषि चेत् ततस्तर्हि । अभ्यासो मदीयजन्मकर्मगुणानां पुनः पुनः श्रवणादिकं स एव योगस्तेन । माम् । आप्तुं प्राप्तुम् । इच्छ यतस्व ॥ ९ ॥

यदि तू मुझमें चित्तको स्थिरतापूर्वक स्थापना करनेमें समर्थ नहीं है तो अर्जुन ! अभ्यासयोगसे तू मुझे प्राप्त करनेकी इच्छा कर ॥ ९ ॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥

अभ्यास इति । अभ्यासेऽपि । त्वम् । असमर्थः । असि चेत्तर्हि मम कर्माणि मदर्थं स्वदेहेंद्रियादिभिः कर्माणि परमाणि प्रधानानि यस्य तथाभूतः । भव । तदर्थम् । कर्माणि । कुर्वन्सन्नपि । सिद्धिं मयि मनःस्थैर्यम् । अवाप्स्यसि ॥ १० ॥

(यदि) तू अभ्यासमें भी असमर्थ है तो मेरे कर्मोंके परायण हो। मेरे अर्थ कर्म करता हुआ भी तू सिद्धिको प्राप्त हो जायगा ॥ १० ॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥

अथेति । अथ पक्षांतरे । मम योगं भक्तियोगम् । आश्रितः सन् । एतन्मत्कर्मापि । कर्तुम् । अशक्तोऽसि न शक्नोषि चेत् । ततस्तर्हि । यतात्मवान्वशीकृतमनाः । सन् । सर्वकर्मणां फलं त्यागं मदर्पणम् । कुरु ॥ ११ ॥

यदि मेरे योगका आश्रय लेकर तू यह (मदर्थ कर्म) भी करनेमें असमर्थ है, तो मनको संयममें रखकर समस्त कर्मोंके फलका त्याग कर ॥ ११ ॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ १२ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रेय इति। अभ्यासात्। ज्ञानमात्मपरमात्मवेदनम्। श्रेयो हि श्रेयस्करमेव। ज्ञानात्। ध्यानमात्मरूपेण मन्मूर्त्तिचिंतनम् विशिष्यते श्रेष्ठं भवति। ध्यानात्। कर्मफलत्यागः कर्मणां मदर्पणम्। विशिष्यते। त्यागात्। शांतिः स्थितप्रज्ञतारूपं सुखं भवति। अनंतरं शांतेः सकाशात्पराभक्तिर्भवतीत्यर्थः॥ १२॥

अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञानसे ध्यान विशेष है, ध्यानसे कर्मफलत्याग श्रेष्ठ है; क्योंकि त्यागके अनन्तर शान्ति होती है॥ १२॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥ १३॥

अथ ज्ञानिभक्तलक्षणान्याहाष्टभिः। अद्वेष्टेति। सर्वभूतानाम्। अद्वेष्टा। मैत्रः करुणः। एव। निर्ममः। निरहंकारः। समे दुःखसुखे यस्य सः। क्षमी क्षमावांश्च॥१३॥

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ १४॥

संतुष्ट इति। सततम्। संतुष्टः। योगी मद्ध्यानयुक्तः। यतात्मा जितमनाः। मद्धर्मेषु दृढनिश्चयः। मयि। अर्पिते मनोबुद्धी येन स च। यः। मद्भक्तः। सः। मे मम। प्रियोऽस्ति॥ १४॥

सब भूतप्राणियोंके साथ द्वेष न करनेवाला, मित्रता और दया-भाववाला, ममता अहङ्कारसे रहित, सुख-दुःखमें समान, क्षमाशील, सन्तुष्ट, नित्य योगी, मनकी वृत्तियोंको वशमें रखनेवाला, दृढनिश्चयी और मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला जो मेरा भक्त है, वह मुझे प्रिय है॥ १३-१४॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥ १५॥

यस्मादिति। यस्मात्। लोको जनः। न। उद्विजते। यश्च। लोकात्। न। उद्विजते। यश्च। हर्षामर्षभयोद्वेगैः। मुक्तः। स भक्तः। मे प्रियोऽस्ति॥ १५॥

जिससे संसार उद्वेग नहीं करता और जो संसारसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता, जो हर्ष, अधर्म, भय तथा उद्वेगसे मुक्त है, वह भी मेरा प्यारा है॥ १५॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ १६॥

अनपेक्ष इति। नास्ति मदितरवस्तुनोऽपेक्षा यस्य सः। शुचिः। दक्षः। उदासीनः। गतव्यथः। सर्वारंभस्य मद्भक्तिवर्जितसकलक्रियायाः परित्यागो विद्यतेऽस्य च। यः। मद्भक्तः। सः मे प्रियोऽस्ति॥ १६॥

अपेक्षासे रहित, शुद्ध, दक्ष, उदासीन, व्यथारहित, सारे आरम्भोंका त्याग करनेवाला जो मेरा भक्त है, वह मेरा प्यारा है॥ १६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥

य इति । यः । न हृष्यति मायिकवस्तुप्राप्त्याऽऽनंदं नाप्नोति । न द्वेष्टि प्राकृतपदार्थं प्राप्य द्वेषं न करोति न कांक्षति तं नेच्छति तन्नष्टे न शोचति । शुभाशुभे परित्यक्तुं शीलं यस्येत्येवंभूतः । यः । भक्तिमान् । सः । मे प्रियोऽस्ति ॥ १७ ॥

जो न हर्ष करता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न आकांक्षा करता है और शुभ-अशुभ दोनोंका त्यागी है, जो ऐसा भक्त है, वह मुझे प्यारा है ॥१७॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥ १८ ॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ १९ ॥

सम इति । शत्रौ । मित्रे च । तथा । मानापमानयोः । समः । शीतोष्णसुखदुःखेषु च । समः । संगेन मन्मदीयव्यतिरेकेष्वासक्त्या विवर्जितः ॥ १८ ॥

तुल्येति । तुल्ये निंदास्तुती यस्य सः । मौनी यतवाक् । येन केनचिद्यदृच्छालब्धेन । संतुष्टः । अनिकेतो नियतनिवासस्थानरहितः । स्वधर्मे स्थिरमतिः । भक्तिमांश्च । यो नरः सः । मे प्रियः ॥ १९ ॥

शत्रु-मित्र और मान-अपमानमें एक समान, शीत-उष्ण तथा सुख-दुःखमें एक समान, आसक्तिसे रहित, निन्दा और स्तुतिको समान समझनेवाला, मौनी, जिस किसीसे भी सन्तुष्ट, अनिकेत और स्थिर मतिवाला जो भक्तिमान् है, वह मनुष्य मेरा प्यारा है ॥ १८-१९ ॥

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ २० ॥

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

उक्तान्भागवतधर्मानुपसंहरन्नाह । ये त्विति । ये तु ज्ञानिभक्ताः । इदम् । धर्म्यामृतं धर्मकलाप एवामृतम् । यथा । उक्तम् । तथा । श्रद्दधानाः संतः । पर्युपासतेऽनुतिष्ठंति । ते । मम परमाः श्रेष्ठाः । भक्ताः । मे मम । अतीव । प्रियाः संति ॥ २० ॥

इति श्रीभगवद्गीताटीकायामन्वयार्थदीपिकायां द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

परन्तु जो पहले कहे हुए इस धर्म्यामृतका अनुष्ठान करते हैं, वे श्रद्धायुक्त मेरे परायण भक्त मुझे अत्यन्त प्यारे हैं ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

क्षेत्रक्षेत्रज्ञस्वरूपाण्युक्त्वैवात्र सविस्तरम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग उक्तस्त्रयोदशे ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥

अथ क्षेत्रक्षेत्रज्ञानां स्वरूपाणि वदन् श्रीभगवानाह। इदमिति। हे कौंतेय। इदम्। शरीरं देवमनुष्यादीनां देहः। क्षेत्रम्। इति। अभिधीयते। एतत्क्षेत्रम्। यः। वेत्ति जानाति। तम्। तद्विदः क्षेत्रज्ञयाथार्थ्यज्ञः। क्षेत्रज्ञः। इति। प्राहुः ॥ १ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—कौन्तेय! यह शरीर क्षेत्र है, ऐसा कहा जाता है, जो इस क्षेत्र को जानता है, उसको उसे जानने वाले ज्ञानी पुरुष क्षेत्रज्ञ ऐसा कहते हैं ॥ १ ॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

तद्देवं क्षेत्रतया वेदन्क्षेत्रज्ञ तथा जीवात्मनश्चोक्तोऽथ सर्वांस्तान्क्षेत्रतया परमेश्वरं स्वं क्षेत्रज्ञतया चाह क्षेत्रज्ञमिति। हे भारत। सर्वत्रेषु मायाजीवेश्वरमुक्तेषु सर्वेषु। क्षेत्रज्ञमंतर्यामितया स्थितमपि। माम्। विद्धि। यदुक्तप्रकारम्। क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः। ज्ञानम्। तच्च तदेव। ज्ञानम्। मम। मतम्। सिद्धांतत्वेन मया प्रतिपादितमित्यर्थः ॥ २ ॥

अर्जुन! सारे क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ भी तू मुझको जान। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है, वही (उपादेय) ज्ञान है, यह मेरा मत है ॥ २ ॥

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥

तदिति। तत्प्रागुक्तम्। क्षेत्रं शरीरम्। यच्च यथास्वरूपम्। यादृग्यादृशधर्मवत्। यद्विकारि यैर्विकारैर्युक्तम्। यतो यस्माद्धेतोरिदं जातम्। यद्यैः स्थावरजंगमादिभेदैर्भिन्नश्च भवति स च क्षेत्रज्ञः। यो यत्स्वरूपः। यत्प्रभावो यैः प्रभावैर्युक्तश्च भवति। तत्सर्वम्। समासेन। मे मत्तः। त्वम्। शृणु ॥ ३ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वह क्षेत्र जो है, और जैसा है, जिस विकार वाला है और जिससे जो (उत्पन्न) होता है, तथा वह (क्षेत्रज्ञ) जो है, और जिस प्रभाव वाला है वह सब तू मुझ से संक्षेप में सुन ॥ ३ ॥

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

ऋषिभिरिति । ऋषिभिः पराशरादिभिः । बहुधा । गीतं निरूपितम् । विविधैः ऋग्यजुःसामाथर्वछन्दोभिर्वेदैः । पृथग्भिन्नभिन्नप्रकारैर्गीतं हेतुमद्भिर्हेत्वर्थपंचमीयुक्तैः । विशेषेण निश्चितैश्च । ब्रह्मजडचिद्विशिष्टस्य परब्रह्मणः प्रतिपादकश्रुतिसंदोहः सूयते ग्रथ्यते येषु तानि यानि पदानि वाक्यानि तैश्च गीतम् । एभिर्बहुधोक्तं क्षेत्रक्षेत्रज्ञस्वरूपयाथार्थ्यं मया संक्षेपेण स्पष्टमुच्यमानं त्वं श्रृण्वित्यर्थः ॥ ४ ॥

(क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के स्वरूप का वर्णन) ऋषियों के द्वारा बहुत प्रकार से किया गया है, नाना प्रकार के वेद-मन्त्रों के द्वारा पृथक्-पृथक् कहा गया है और ऐसे ही निश्चित अर्थ वाले युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्र के पदों से भी कहा गया है ॥ ४ ॥

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

तत्क्षेत्रनिर्णयमाह द्वाभ्याम् । महाभूतानि भूम्यादीनि । अहंकारः । बुद्धिः । अव्यक्तं प्रधानप्रकृतिश्च । दश । इंद्रियाणि एकं मनः । पंच । इंद्रियगोचराः शब्दादिविषयाश्च । एव ॥ ५ ॥

इच्छेति । इच्छा चतुर्वर्गेच्छा । द्वेषः । सुखम् । दुःखम् । चेतना धृतिजीवात्मनामाधारः । संघातो भूतसमुदायो देहश्च । सविकारं विकारसहितम् । एतत्सर्वम् । क्षेत्रं तत्समासेन । उदाहृतम् ॥ ६ ॥

महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि, अव्यक्त, दश इन्द्रिय, एक मन, पाँच इन्द्रियों के विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, यह चेतन का आधाररूप संघात विकारसहित क्षेत्र संक्षेप में बतलाया गया है ॥ ५-६ ॥

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥

अथ क्षेत्रकार्यभूतान् आत्मपरमात्मप्राप्तिसाधनत्वेन ग्राह्यान् गुणानाह पंचभिः । अमानित्वमिति । अमानित्वम् । अदंभित्वम् । अहिंसा । क्षांतिः । आर्जवं वक्रतारहितत्वम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्यस्य सांगभक्तिमार्गोपदेष्टुर्गुरोरुपासनं सेवनम्। शौचम् स्थैर्यं स्थितप्रज्ञत्वम्। आत्मनो मनसो विनिग्रहश्च ॥ ७ ॥

मानहीनता, दम्भहीनता, अहिंसा, क्षमा, सरलता, आचार्य की उपासना, शौच, स्थिरता और मन का भलीभाँति निग्रह ॥ ७ ॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

इंद्रियेति। इंद्रियार्थेषु मायिकविषयेषु। वैराग्यम्। अनहंकारो देहेऽभिमानशून्यत्वमेव। जन्ममृत्युं जराव्याधिदुःखादयो ये देहे दोषास्तेषामनुदर्शनं वारंवारमालोचनं च ॥ ८ ॥

इन्द्रियों के भोगों में वैराग्य और अहङ्कार हीनता तथा जन्म, मृत्यु, जराव्याधि एवं दुःखरूप दोष को बार-बार देखना ॥ ८ ॥

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

असक्तिरिति। असक्तिः कर्मफलेष्वनासक्तिः। पुत्रदारगृहादिषु। अनभिष्वंगः प्रीतिराहित्यम्। इष्टानिष्टयोरुपपत्तिषु प्राप्तिषु। नित्यम्। समचित्तत्वं च ॥ ९ ॥

अनासक्ति, पुत्र-स्त्री, घर आदि में अलिप्तता तथा इष्ट और अनिष्ट की प्राप्तियों में सदा समचित्त रहना ॥ ९ ॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥

मयीति। मयि प्रत्यक्षपरमात्मनि। अनन्ययोगेनाचलभावेन। अव्यभिचारिणी शुद्धा भक्तिः। विविक्तदेशो निर्जनस्थानं तस्य सेवित्वम्। जनानां मद्विमुखानां संसदि सभायाम्। अरतिरप्रीतिश्च ॥ १० ॥

मुझमें अनन्य योग से अव्यभिचारिणी भक्ति, एकान्त देश के सेवन करने का स्वभाव और जनसमुदाय में अप्रीति ॥ १० ॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

अध्यात्मेति। अध्यात्ममात्मानात्माश्रयं यज्ज्ञानं तस्मिन्नित्यत्वमेकनिष्ठत्वम्। तत्त्वज्ञानस्य योऽर्थः प्रयोजनं क्षेत्रज्ञशुद्धिस्तस्य दर्शनम्। एतदमानित्वादिसाधनवृंदम्। ज्ञायते ज्ञेयमनेनेति ज्ञानं ज्ञानसाधनम्। इति। प्रोक्तम्। अत एतद्गुणवृंदात्। अन्यथा। यन्मानदंभादि। तम्। अज्ञानमिति प्रोक्तम्। तच्च त्याज्यमितिभावः ॥ ११ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अध्यात्मज्ञान में नित्य स्थिति, तत्त्वज्ञान के अर्थ का दर्शन; यह (सब) ज्ञान है, इसके विपरीत जो है, वह अज्ञान है, ऐसा कहा है ॥ ११ ॥

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥

ज्ञेयमिति । ज्ञेयमेभिः साधनैर्ज्ञातव्यम् । यदक्षरं ब्रह्म । तत् । अहम् । प्रवक्ष्यामि । यत् । ज्ञात्वा । अमृतं तत्साधर्म्यम् । अश्नुते भक्तः प्राप्नोति । तत्कथंभूतम् । न विद्यते आदिर्यस्यानादि । अहं परं श्रेष्ठो यस्मान्मत्परम् । ब्रह्मबृहद्गुणाढयम् । तदक्षरम् । सत्स्थूलम् । असत्सूक्ष्मं च । नोच्यते ॥ १२ ॥

जो ज्ञेय है, उसको मैं कहूँगा, जिसको जान कर (मनुष्य) अमृत भोगता है । वह अनादि, मत्पर और ब्रह्म है । वह न सत् और न असत् ही कहा जा सकता है ॥ १२ ॥

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥

सर्वत इति । पुनः कथंभूतम् । सर्वतः पाणिपादम् । सर्वतोऽक्षीणि च शिरांसि च मुखानि च यस्य तत् । सर्वतः । श्रुतिमच्छ्रवणेंद्रियाढ्यम् । तत्सावयवमक्षरब्रह्म । सर्वं चेतनाचेतनवृंदम् । आवृत्य व्याप्य । तिष्ठति ममाधीनतया स्थितमस्ति ॥ १३ ॥

वह (आत्मा) सब ओर हाथ-पैर वाला, सब ओर नेत्र, सिर, मुख वाला तथा सब ओर कान वाला है, तथा इस जगत् में सबको ढक करके स्थित हो रहा है ॥ १३ ॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४ ॥

सर्वेति । सर्वेंद्रियगुणानाभासयतीति तथोक्तम् । सर्वेंद्रियैर्विवर्जितम् । असक्तं मां श्रीहरिं विनाऽन्यत्र प्रीतिशून्यमेव । सर्वाञ्जीवेश्वरान्बिभर्तीति सर्वभृत् । निर्गुणम् । गुणभोक्तृ दिव्यगुणाढ्यं च ॥ १४ ॥

वह सब इन्द्रियों के गुणों के द्वारा भासमान, सब इन्द्रियों से रहित और असक्त है परन्तु सबका धारण कर्त्ता है और वैसे ही निर्गुण है परन्तु गुणों का भोक्ता भी है ॥ १४ ॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ १५ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बहिरिति । तदक्षरम् । भूतानाम् । अंतः । बहिश्च स्थितम् । अचरं मम धामरूपम् । चरं पुरुषाकृत्या मत्सेवायां स्थितमेव । तच्च । अभक्तानां दूरस्थम् । भक्तानामंतिके स्थितं च । सूक्ष्मत्वात् । अविज्ञेयं च ॥ १५ ॥

वह भूतों के अन्दर और बाहर है, चर और अचर भी है । सूक्ष्म होने से अविज्ञेय है; वह दूरस्थ भी है और समीप भी ॥ १५ ॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥

अविभक्तमिति । अविभक्तविभागशून्यम् । भूतेषु । विभक्तमिव । स्थितं यथाकर्मफलप्रदानायावस्थितं च । भूतानां भर्तृधारकं च । प्रभविष्णु ग्रसिष्णु स्थावरजंगमोत्पत्तिलयहेतु च । तथाभूतमक्षरम् । ज्ञेयम् ॥ १६ ॥

वह सब भूतों में अविभक्त होने पर भी विभक्त के सदृश स्थित है । तथा वह ज्ञेयतत्त्व सब भूतों का भर्ता, ग्रसनेवाला और उत्पन्न करनेवाला भी है ॥१६॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ॥ १७ ॥

ज्योतिषामिति । पुनःकथंभूतम् । तदक्षरम् । ज्योतिषां सूर्यादीनामपि । ज्योतिः प्रकाशकम् । तमसः प्रकृतेः । परम् । उच्यते । ज्ञानं ज्ञानप्रचुरम् । ज्ञेयं ज्ञातुं योग्यम् । ज्ञानेन ज्ञानसाधनैर्गम्यं प्राप्यम् । सर्वस्य हृदि । धिष्ठितं नियंतृतया स्थितं च ॥ १७ ॥

वह ज्योतियों का भी ज्योति और प्रकृति से पर कहा जाता है; (वह) ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञानगम्य है तथा सबके हृदय में स्थित है ॥ १७ ॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १८ ॥

इतीति । इत्येवम् । क्षेत्रं क्षेत्रस्वरूपम् । तथा । ज्ञानं ज्ञानसाधनानि । ज्ञेयमक्षरब्रह्म च । समासतः । उक्तम् । मद्भक्तः । एतत्सर्वम् । विज्ञाय । मद्भावाय उपपद्यते मम पार्षदत्वाय योग्यो भवतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

इस प्रकार क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय संक्षेप से कहा गया है । मेरा भक्त इसको जानकर मेरे भाव को प्राप्त होने के योग्य बन जाता है ॥ १८ ॥

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥ १९ ॥

अथ प्रकृतिपुरुषस्वरूपादिकं वदति प्रकृतिमिति । प्रकृतिमविद्याम् । पुरुषं जीवं च । उभावपि । अनादी । एव । विद्धि । विकारान्मन आदिषोडश । गुणान्सत्त्वादींश्च । प्रकृतिसंभवानेव । विद्धि ॥ १९ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकृति और पुरुष इन दोनों को ही तू अनादि जान। और सब विकारों तथा गुणों को तू प्रकृति से उत्पन्न हुआ जान ॥ १९ ॥

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २० ॥

कार्येति। कार्यं वपुश्च करणानींद्रियाणि च तेषां कर्तृत्वे स्वस्वक्रियाकर्तृत्वे। प्रकृतिरविद्या। हेतुः। उच्यते। यद्वा। कार्यं च करणानि च कर्तारो देवाश्च तेषां भावस्तस्मिन्प्रकृतिर्हेतुरुच्यते। पुरुषो जीवः। सुखदुःखानाम्। भोक्तृत्वे। हेतुः। उच्यते ॥ २० ॥

कार्य-कारण के कर्त्तापन में प्रकृति हेतु कहलाती है और सुख-दुःख के भोक्तापन में पुरुष हेतु कहलाता है ॥ २० ॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २१ ॥

पुरुष इति। पुरुषो जीवः। प्रकृतिस्थः सन्। प्रकृतिजान्। गुणान्सुखदुःखादीन्। भुंक्ते। हि। अस्य जीवस्य। गुणेष्विंद्रियविषयेषु संग आसक्तिः। सदसद्योनिषु यानि जन्मानि तेषु। कारणमस्ति ॥ २१ ॥

पुरुष प्रकृति में स्थित हुआ ही प्रकृति से उत्पन्न गुणों को भोगता है और गुणों का संग ही उसके अच्छी-बुरी योनियों में जन्म का कारण है ॥ २१ ॥

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिपुरुषः परः ॥ २२ ॥

पुनःप्रकृत्यधिपं पुरुषं वदति। उपद्रष्टेति। उपद्रष्टा सर्वेषां कर्मसाक्षी। अनुमंता कर्मफलप्रेरकः। भर्त्ता पोषणकर्त्ता। भोक्ता सर्वेभ्यः श्रेष्ठविषयोपभोक्ता। महतां ब्रह्मादीनामीश्वरो महेश्वरः। अस्मिन्देहे। विराट्शरीरे वैराजांतरात्मतया स्थितः। परो बद्धेभ्यः श्रेष्ठः। यः पुरुषः। सोऽपि। परमात्मा परमात्मनो ममावतारः। इति। उक्तश्च ॥ २२ ॥

इस शरीर में (यह) पर पुरुष उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर्य और परमात्मा भी है—ऐसा कहा गया है ॥ २२ ॥

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ २३ ॥

य इति यः पुरुषः। एवं मदुक्तरीत्या। गुणैः सह पुरुषम्। प्रकृतिं च। वेत्ति। सः। सर्वथा। वर्त्तमानोऽपि। भूयः पुनः। नाभिजायते प्रकृतिसंबंधेन नोत्पद्यते ॥ २३ ॥

जो इस पुरुष को और गुणों के सहित प्रकृति को जानता है, वह सब प्रकार से बर्तता हुआ भी फिर जन्म ग्रहण नहीं करता ॥ २३ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ २४ ॥

आत्मदर्शनसाधनानि कुर्वंतः पुरुषानाह । ध्यानेनेति । केचित्पक्वाग्नियोगाः । आत्मनि देहे । ध्यानेन ध्यानसहितेन । आत्मना मनसा । आत्मानं शुद्धक्षेत्रज्ञम् । पश्यंति । यद्वा । केचिज्ज्ञानिभक्ताः । आत्मनि स्वस्मिन् । ध्यानसहितेन मनसा । आत्मानं परमात्मानं मां पश्यंति । अन्ये । सांख्येन ज्ञानयोगेन । अन्ये केचित् । योगेनाष्टांगयोगेन । अपरे केचित् । कर्मयोगेनांतर्गतज्ञानयुक्तेन तेन च । आत्मानं पश्यंति ॥ २४ ॥

कितने ही पुरुष आत्मा (शरीर) में स्थित आत्मा को आत्मा (मन) से ध्यान के द्वारा देखते हैं, कितने ही सांख्ययोग के द्वारा और दूसरे कर्मयोग के द्वारा (देखते हैं) ॥ २४ ॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २५ ॥

अन्य इति । एवम् । अजानंतः । अन्ये जनास्तु । अन्येभ्यो मोक्षसाधनविद्भ्यः । श्रुत्वा । तद्दर्शितमार्गेण मामुपासते भजंति । श्रुतिपरायणाः श्रवणनिष्ठाः । ते जना अपि । मृत्युमुत्तरंति मृत्युरहिता भवंत्येव ॥ २५ ॥

दूसरे (कितने ही) ऐसा न जानते हुए दूसरों (तत्त्व ज्ञानियों) से सुनकर उपासना करते हैं । वे श्रुतिपरायण मनुष्य भी मृत्यु से अवश्य तर जाते हैं ॥२५॥

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ २६ ॥

स्थिरचरोत्पत्तिनिश्चयमाह । यावदिति । हे भरतर्षभ । यावत्किंचित्किमपि । स्थावरजंगमम् । सत्त्वम् । संजायते तत्सर्वम् । क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्यः संयोगः संबंधस्तस्मादुत्पन्नमिति विद्धि त्वं जानीहि ॥ २६ ॥

भरतश्रेष्ठ अर्जुन ! जो भी चर-अचर प्राणी-जगत् उत्पन्न होता है, उसे तू क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संयोग से (उत्पन्न हुआ) जान ॥ २६ ॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ २७ ॥

अथ तदंतर्यामिणः स्वस्य ज्ञानमाह । सममिति । सर्वेषु । भूतेषु । समं यथा तथा तिष्ठंतमंतर्यामिरूपेण । स्थितम् । तेषु विनश्यत्सु स्थूलादिक्षेत्रभावेन विनाशं प्राप्नुवत्सु । अविनश्यंतम् । परमेश्वरं माम् । यः । पश्यति । सः पश्यति ज्ञानी भवति । अन्यस्त्वज्ञ इत्यर्थः ॥ २७ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो पुरुष समस्त भूत प्राणियों में शरीरादि के नष्ट होते हुए भी उनके स्वामी आत्मा को नाशरहित तथा समभाव से स्थित देखता है, वही (यथार्थ) देखता है ।। २७ ।।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ।। २८ ।।

सममिति । सर्वत्र सर्वेषु । समवस्थितमंतर्यामितया स्थितम् । ईश्वरं कर्मफलप्रदातारं माम् । आत्मना मनसा । समम् । पश्यन्सन् । यः । आत्मानं कस्यापि देहम् । न हिनस्ति मम भयेनेति शेषः । सः । ततो मत्स्वरूपज्ञानात् । परां श्रेष्ठाम् । गतिम् । याति प्राप्नोति हि ॥ २८ ॥

क्योंकि सर्वत्र समभाव से स्थित ईश्वर को एक समान देखता हुआ वह आत्मा (मन) के द्वारा आत्मा का हनन नहीं करता, इसलिये वह परमगति को प्राप्त होता है ।। २८ ।।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ।। २९ ।।

अथात्मनोऽकर्तृत्वमाह । प्रकृत्येति । सर्वशः सर्वाणि । कर्माणि । प्रकृत्या । एव । क्रियमाणानि । इति यः । पश्यति । तथा । आत्मानं च । अकर्त्तारं निरभिमानितया ज्ञानस्वरूपं पश्यति । सः । पश्यति ज्ञानी भवतीत्यर्थः ॥ २९ ॥

जो कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति के द्वारा ही किये हुए देखता है और आत्मा को अकर्ता देखता है, वह (यथार्थ) देखता है ।। २९ ।।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ।। ३० ।।

नृतिर्यगादिभेदाः प्रकृतिस्थानक्षेत्रज्ञस्थिता इत्याह । यदेति । यदा । भूतेषु यः पृथग्भावः देवमनुष्यतिर्यगादिभावस्तम् । एकस्थमेकस्यां प्रकृतौ स्थितम् । अनुपश्यति । ततः प्रकृतेरेव । विस्तारं वर्णाश्रमगोमहिष्यादिभेदप्रपंचं पश्यति । तदा । ब्रह्म । संपद्यते ब्रह्मभावं प्राप्नोति ॥ ३० ॥

जब यह भूतों के पृथक् भाव को एक (प्रकृति) में स्थित और उस (प्रकृति) से ही (भूतों के) विस्तार को देखता है, तब वह ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है ।।३०।।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ।। ३१ ।।

अथात्मपरमात्मनो निर्लेपत्वमाह द्वाभ्याम् । अनादित्वादिति । हे कौंतेय । अव्ययः । अयं जीवात्मा । अनादित्वात् निर्गुणत्वाच्च हेतोः । शरीरस्थः अपि । न करोति फलासक्त्या

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर्माणि न विदधाति। अत एव। न लिप्यते। परमात्मा जीवात्मांतर्यामितया स्थितोऽहमपि सर्वथा विशेषत्वेनालिप्तश्चास्मि ॥ ३१ ॥

कुन्तीपुत्र अर्जुन! अनादि और निर्गुण होने से यह अव्यय परमात्मा शरीर में स्थित हुआ भी न (कुछ) करता है और न लिप्त होता है ॥ ३१ ॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥

तत्र दृष्टांतं वदन्नाह। यथेति। सौक्ष्म्यात्। सर्वगतम्। आकाशम्। यथा। न। उपलिप्यते। तथा। सर्वत्र देवनृतिर्यगादौ। देहे। अवस्थितः। आत्मा। नोपलिप्यते। यदैवं तदा तदंतर्यामी स्वतंत्रोऽहमलिप्तः स्यां तत्र किं वक्तव्यमितिभावः ॥ ३२ ॥

जैसे सर्वगत आकाश सूक्ष्म होने के कारण लिप्त नहीं होता, वैसे ही शरीर में सर्वत्र स्थित हुआ भी आत्मा लिप्त नहीं होता ॥ ३२ ॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

यथेति। हे भारत। यथा। एकः रविः सूर्यः। कृत्स्नम्। इमम्। लोकम्। प्रकाशयति। तथा। कृत्स्नम्। क्षेत्रं शरीरं ब्रह्मांडं च। क्षेत्री जीवो वैराजश्चेति द्विविधः क्षेत्रज्ञः। प्रकाशयति। प्रकाश्याल्लोकाद् रविर्यथा तथा शरीराद्ब्रह्मांडाच्च द्विविधः क्षेत्रात् क्षेत्रज्ञो विलक्षणोऽस्ति तथा सर्वेभ्योऽहं चातिविलक्षणोऽस्मीत्यर्थः ॥ ३३ ॥

भारत! जैसे एक ही सूर्य इस समस्त लोक को प्रकाशित करता है, वैसे ही क्षेत्रज्ञ समस्त क्षेत्र को प्रकाशित करता है ॥ ३३ ॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

क्षेत्रेति। एवम्। क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः। अंतरभेदम्। तथा। भूतानां प्राणिनां प्रकृतेः सकाशाद्यो मोक्षस्तं च। ज्ञानचक्षुषा विवेकदृष्ट्या। ये भक्ताः। विदुः। ते परं परमात्मानं माम् यान्ति ॥ ३४ ॥

इति श्रीभगवद्गीताटीकायामन्वयार्थदीपिकायां त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के भेद को और भूत-प्रकृति के मोक्ष को (अमानित्वादि उपाय को) जो ज्ञान नेत्रों के द्वारा जान लेते हैं, वे परम तत्त्व को प्राप्त होते हैं ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

गुणत्रयविभागात्मयोगः प्रोक्तश्चतुर्दशे ।
दर्शयित्वा स्वरूपाणि तेषां पृथक्पृथक्तया ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १ ॥

पुनर्गुणज्ञानं वक्तुं तत्प्रशंसति । परमिति । परमन्यत् । ज्ञानानामात्मानात्मवयुनानां मध्ये । उत्तमं श्रेष्ठम् । ज्ञानम् । अहम् । भूयः । प्रवक्ष्यामि । यत् । ज्ञात्वा । सर्वे । मुनयः । इतोऽस्माल्लोकात् परां सिद्धिं श्रेष्ठमोक्षम् । गताः प्राप्ताः ॥ १ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—मैं ज्ञानों में उत्तम परम ज्ञान को फिर कहता हूँ, जिसको जानकर सब मुनि इस संसार से (छूटकर) परमसिद्धि को प्राप्त हो चुके हैं ॥ १ ॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥

इदमिति । इदं वक्ष्यमाणम् । ज्ञानम् । उपाश्रित्य । मम परमेश्वरस्य । समानश्च असौ धर्मश्च स धर्मो मत्सेवोपयोगिस्वभावस्तस्य भावः साधर्म्यं सेवकत्वम् । आगताः प्राप्ताः संतः । सर्गे सृष्टिकालेऽपि । नोपजायंते । प्रलये । न व्यथंति नष्टदेहा न भवंति च ॥ २ ॥

इस ज्ञान का आश्रय लेकर मेरे साधर्म्य को प्राप्त हुए पुरुष न तो सृष्टि-काल में उत्पन्न होते हैं और न प्रलयकाल में व्यथित होते हैं ॥ २ ॥

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥

अथात्मनां प्रकृतिबंधनं वस्तुतया तस्याः संबंधेन तेषां देहोत्पत्तिमाह । ममेति । हे भारत । मम परमेश्वरस्य । योनिर्गर्भाधानस्थानम् । महतां ब्रह्मादीनां जन्ममहत्त्वकार्याणां वृद्धिहेतुत्वाद्ब्रह्म तच्च तत् प्रकृतिरित्यर्थः । तस्मिन् । अहम् । गर्भं दृष्टिरूपम् । दधामि । ततः । सर्वभूतानाम् । संभवो जन्म । भवति ॥ ३ ॥

भारत ! मेरी महद्ब्रह्म योनि (प्रकृति) है, उसमें मैं गर्भ को स्थापन करता हूँ, उस (संयोग) से समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है ॥ ३ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

सर्वेति । हे कौंतेय । सर्वयोनिषु । याः । मूर्त्तयो देहाः संभवंति । तासां मूर्त्तीनाम् । योनिः क्षेत्रम् । महद्ब्रह्मप्रकृतिरस्ति । बीजप्रदः कर्मफलदाता । पिता । अहमस्मि ॥ ४ ॥

कुन्तीपुत्र अर्जुन ! समस्त योनियों में जो मूर्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उन सबकी योनि महद्ब्रह्म है और मैं बीज प्रदान करने वाला पिता हूँ ॥ ४ ॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

अथैवं प्रकृतिसंभवानां जन्महेतुं वदति चतुर्दशभिः । सत्त्वमिति । हे महाबाहो । प्रकृतेः सकाशात्संभवो येषां ते । सत्त्वम् । रजः । तमः । इति त्रयः । गुणाः । अव्ययमविनाशिनम् । देहिनम् । देहे । निबध्नंति ॥ ५ ॥

अर्जुन ! प्रकृति से उत्पन्न सत्त्व, रज और तम–ये गुण अव्यय आत्मा को देह में बाँध लेते हैं ॥ ५ ॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ ६ ॥

तत्स्वरूपं बंधनप्रकारं च वदंस्तदेवाह । तत्रेति । तत्र तेषु गुणेषु मध्ये । सत्त्वम् । निर्मलत्वात् । प्रकाशकम् अनामयमाधिवर्जितं चास्ति । तथाभूतं सत् हे अनघ । सुखसंगेन सुखासक्त्याज्ञानखड्गेन वस्तुयाथात्म्यबोधनासक्त्या च देहिनं बध्नाति ॥ ६ ॥

उनमें सत्त्वगुण निर्मल होने के कारण प्रकाशक है और रोगरहित है। निष्पाप अर्जुन ! (यह सत्त्वगुण) सुख के सङ्ग से और ज्ञान के सङ्ग से (जीवात्मा को) बाँधता है ॥ ६ ॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ ७ ॥

रज इति । विषयेषु पुरुषोऽनेनेतिरागः प्रीतिः स एवात्मा स्वरूपं यस्य तत् । तृष्णा च संगश्च तयोः समुद्भवो यस्मात् तथाभूतम् । रजः । त्वं विद्धि । तद्रजः देहिनम् । कर्मणि पुण्यपापरूपे यः संग आसक्तिस्तेन । निबध्नाति ॥ ७ ॥

कुन्तीपुत्र अर्जुन ! रजोगुण को तू रागात्मक और तृष्णा तथा सङ्ग का उत्पत्ति स्थान जान। वह इस जीवात्मा को कर्म के सङ्ग से बाँधता है ॥ ७ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

तम इति । हे भारत । सर्वदेहिनाम् । मोहनं विपरीतज्ञानजनकम् । तमस्तु अज्ञानजम् । त्वं विद्धि । प्रमादालस्यनिद्राभिः तं देहिनम् । निबध्नाति ॥ ८ ॥

परन्तु अर्जुन ! तमोगुण को तू अज्ञानजन्य और सब जीवों को मोहित करने वाला जान । वह प्रमाद, आलस्य और निद्रा के द्वारा (इस जीवात्मा को) बाँधता है ॥ ८ ॥

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

सत्त्वमिति । हे भारत । सत्त्वंसुखे संजयति देहिनं सुखासक्तं करोति, रजः कर्मणि संजयति उतेति खेदे । तमस्तु । ज्ञानम् । आवृत्य । प्रमादे । संजयति ॥ ९ ॥

अर्जुन ! सत्त्वगुण सुख में और रजोगुण कर्म में लगाता है, परन्तु तमोगुण ज्ञान को ढककर फिर प्रमाद में भी लगाता है ॥ ९ ॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥

रज इति । हे भारत । रजः । तमश्चेति गुणद्वयम् । सत्संगादिभिः । अभिभूय । सत्त्वं सत्त्ववृद्धिः । भवति । स त्वं तमश्चेति द्वयम् । राजसाहारादिभिरभिभूय । रजोवृद्धिः भवति तथा । सत्त्वं रजश्चेति द्वयम् । प्रमादादिभिरभिभूय । तमस्तमोवृद्धिर्भवति ॥ १० ॥

अर्जुन ! रज और तम को दबाकर सत्त्वगुण, सत्त्व और तम को दबाकर रजोगुण एवं ऐसे ही सत्त्व और रज को दबाकर तमोगुण होता (बढ़ता) है ॥१०॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥

सर्वेति अस्मिन्वासनास्थाने । देहे । सर्वाणि यानि द्वाराणींद्रियाणि तेषु । यदा । प्रकाशः । उपजायते । उत यदा च । ज्ञानमुत्पद्यते । तदा सत्त्वम् । विवृद्धं वृद्धिप्राप्तम् । विद्याज्जानीयात् ॥ ११ ॥

जब सभी इन्द्रियद्वारों में ज्ञानरूपी प्रकाश उत्पन्न होता है, तब ऐसा समझो कि इस शरीर में सत्त्वगुण बढ़ा है ॥ ११ ॥

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लोभ इति । हे भरतर्षभ । रजसि । विवृद्धे सति लोभो विषयतृष्णा । प्रवृत्तिः । प्रवृत्तकर्मासक्तिः । कर्मणाम् । आरंभः । अशम इंद्रियमनसामशांतिः । स्पृहा भोगेच्छा । एतानि । जायन्ते ॥ १२ ॥

भरतश्रेष्ठ । लोभ, प्रवृत्ति, कर्मों का आरम्भ, अशान्ति और स्पृहा, ये सब रजोगुण के बढ़ने पर उत्पन्न होते हैं ॥ १२ ॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

अप्रकाश इति । हे कुरुनंदन तमसि । विवृद्धे सति । अप्रकाशो विवेकहानिः । अप्रवृत्तिरनुद्यमश्च । प्रमादो । सावधानता । मोहो ज्ञानवैपरीत्यं च । एतानि । जायंते । एव ॥ १३ ॥

कुरुनन्दन ! अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद और मोह—ये सब तमोगुण के बढ़ने पर उत्पन्न होते हैं ॥ १३ ॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

यदेति । देहभृत्प्राणी । प्रवृद्धे । सत्त्वे । यदा । प्रलयं मृत्युम् । याति प्राप्नोति चेत् । तदा तर्हि तु । उत्तमविदामात्मपरमात्मज्ञानवताम् । अमलान् रजस्तमोरहितान् । लोकान् । प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

जब जीवात्मा सत्त्वगुण की वृद्धि के समय मृत्यु को प्राप्त होता है, तब वह आत्मज्ञानियों के निर्मल लोकों को प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥

रजसीति । रजसि प्रवृद्धे । प्रलयम् । गत्वा । कर्मसंगिषु सकामकर्मासक्तदेवमनुष्येषु । जायते । तथा । तमसि प्रवृद्धे । प्रलीनो मृतः प्राणी मूढयोनिषु । जायते ॥ १५ ॥

रजोगुण में मृत्यु को प्राप्त होकर (पुरुष) कर्मासक्तों में जन्म लेता है और तमोगुण में मरा हुआ मूढ योनियों में जन्म लेता है ॥ १५ ॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥

कर्मण इति । सुकृतस्य पुण्यस्य । कर्मणः । सात्त्विकं सत्त्वप्रधानम् । अतः । निर्मलम् । फलम् । आहुर्गुणकार्यविदः प्राहुः । रजसो राजसकर्मणस्तु । फलम् । दुःखं जन्ममरणादिक्लेशबहुलमाहुः । तमसस्तामसकर्मणः । फलम् । अज्ञानमधिकतरतमोजनकमाहुः ॥ १६ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सात्त्विक कर्म का फल सत्त्वगुणी और निर्मल होता है. रजोगुण का फल दुःख और तमोगुण का फल अज्ञान होता है, ऐसा कहा गया है ॥ १६ ॥

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥

सत्त्वादिति । सत्त्वात्सत्त्वगुणात् । ज्ञानम् । संजायते । रजसो रजोगुणात् । लोभ एव । संजायते । तमसस्तमोगुणात् । प्रमादमोहौ । भवतः । अज्ञानं च । भवत्येव ॥ १७॥

सत्त्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है, रजोगुण से लोभ, ऐसे ही तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान उत्पन्न होते हैं ॥ १७ ॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १८ ॥

ऊर्द्ध्वमिति । सत्त्वस्था जनाः ऊर्द्ध्वमुच्चगतिम् । गच्छंति । राजसा जनाः । मध्ये मध्यलोके । तिष्ठंति । जघन्यो निकृष्टो यो गुणस्तमोगुणस्तस्य वृत्तयः प्रमादमोहाद्यास्तत्रस्थाः । तामसा जनाः । अधो नीचयोनिम् । गच्छंति ॥ १८ ॥

सत्त्वगुण में स्थित (पुरुष) ऊपर को जाते हैं, रजोगुणी बीच में ठहर जाते हैं और निकृष्ट गुणी वृत्तियों में स्थित तमोगुणी नीचे को जाते हैं ॥ १८ ॥

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९ ॥

गुणेभ्यः परज्ञानेन मोक्षो भवतीत्याह द्वाभ्याम् । नेति । द्रष्टा गुणज्ञो जीवः । गुणेभ्यः अन्यम् । कर्त्तारं गुणवृत्त्युद्भवविधायकम् । यदा । ना पश्यति । किंतु त एव स्वस्ववृत्त्युद्भवं कुर्वंतीति शुद्धसत्त्वसेवया वेत्तीत्यर्थः । गुणेभ्यः । परमन्यं शुद्धमात्मानं च । वेत्ति । तदा । स द्रष्टा । मद्भावं मदक्षरसाधर्म्यम् । अधिगच्छति ॥ १९ ॥

जब द्रष्टा पुरुष गुणों से भिन्न (दूसरे को) कर्ता नहीं देखता और गुणों से पर को (आत्मा को अकर्ता) जानता है (तब) वह मेरे भाव को प्राप्त होता है ॥१९॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

गुणानिति । देहेंद्रियांतःकरणरूपेण समुद्भवः परिणामो येषां तान् । एतान्मायात्मकान् । त्रीन्सत्त्वादीन् । गुणान् । देही मद्भक्तः । अतीत्योल्लंघ्य । जन्ममृत्युजरादुःखैः । विमुक्तः सन् । अमृतं मोक्षम् अश्नुते प्राप्नोति ॥ २० ॥

यह जीवात्मा शरीर (प्रकृति) से उत्पन्न इन तीनों गुणों को लाँघकर जन्म, मृत्यु, जरा के दुःखों से मुक्त होकर अमृतरूप आत्मा का अनुभव करता है ॥२०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

इदानीं गुणरहितस्य लक्षणं चरणादिकमर्जुनः पृच्छति । कैरिति । हे प्रभो । एतान्सत्त्वादीन् । त्रीन् । गुणान् । अतीतोऽतिक्रम्य स्थितः । लिंगैर्लक्षणैर्युक्तो भवति । किमाचारस्तस्य कीदृग्देहाचारः । एतान् । त्रीन् । गुणान् । कथं कैः साधनैश्च । अतिवर्त्तते । गुणातीतो भवतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

अर्जुन ने कहा—प्रभो ! इन तीन गुणों से अतीत हुआ पुरुष किन-किन चिह्नों से युक्त होता है; किस आचार वाला होता है और वह कैसे इन तीनों गुणों को लाँघता है ? ॥ २१ ॥

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥ २२ ॥

प्रकाशमिति । हे पांडव । प्रकाशं च । प्रवृत्तिं च । मोहञ्च एतच्चोपलक्षणमात्रम् । संप्रवृत्तानि सर्वाण्यपि सत्त्वादीनां कार्याणि । यः । न द्वेष्टि । निवृत्तानि च । नैव कांक्षति । गुणातीतः स उच्यते इति चतुर्थश्लोकेनान्वयः ॥ २२ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—अर्जुन ! जो पुरुष प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह के प्रवृत्त होने पर उनसे द्वेष नहीं करता और निवृत्त होने पर उनकी आकांक्षा नहीं करता ॥ २२ ॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ २३ ॥

तर्हि किं कुर्यादित्यत्राह । उदासीनवदिति । उदासीनवल्लोकं उदासीनो जीवन्मुक्तो यथा । तथाऽऽसीनः स्वस्वरूपज्ञानेन तृप्तः सन्स्थितः यः पुरुषः । गुणैः । न विचाल्यते । गुणाः स्वकार्यैस्तं न चालयंतीत्यर्थः । गुणाः । वर्तंते स्वस्वकार्येषु प्रवर्त्तंते । इत्येवं ज्ञात्वा । यः । अवतिष्ठति । नेंगते गुणकार्यानुसारेण न चेष्टते ॥ २३ ॥

उदासीन के सदृश स्थित हुआ जो गुणों के द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता । केवल गुण ही बर्त रहे हैं, ऐसे समझता हुआ जो स्थिर रहता है, (अपनी स्थिति से) चलायमान नहीं होता ॥ २३ ॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समेति । समे दुःखसुखे यस्य सः । स्वस्थो लाभालाभयोः समचित्तः । अतएव । समानि लोष्टाश्मकांचनानि यस्य सः । अतः तुल्ये प्रियाप्रिये यस्य सः । धीर आत्मानात्मविवेकवान् । अतः । निंदा च आत्मनः संस्तुतिः श्लाघा च ते तुल्ये यस्य तथोक्तश्च ॥ २४ ॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥

मानेति । मानापमानयोः । तुल्यः । मित्रारिपक्षयोर्मित्रपक्षे शत्रुपक्षे च । तुल्यः । सर्वे ये आरंभाः प्राकृतवस्तुप्राप्त्युपायास्तान्परित्यक्तुं शीलमस्य तथाभूतश्च यो भवति । सः । गुणातीत उच्यते ॥ २५ ॥

जो दुःख-सुख में सम है; जो स्वरूप में स्थित है; जिसे मिट्टी, पत्थर, सोना समान है; प्रिय-अप्रिय तुल्य है; जो धीर है, जिसे अपनी निन्दा-स्तुति तुल्य है, जो मान-अपमान में तुल्य है, मित्र और शत्रु के पक्ष में तुल्य है और जो समस्त आरम्भों का परित्यागी है, वह (पुरुष) गुणातीत कहा जाता है ॥२४–२५॥

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥

मामिति । यश्च । अव्यभिचारेणानन्येन । भक्तियोगं न । मां प्रत्यक्षश्रीहरिम् । सेवते भजते । स मद्भक्तः । एतान् । गुणान् । समतीत्य सम्यक् पराभूय । ब्रह्मभूयाय कल्पते अक्षरब्रह्मतुल्यो भवति ॥ २६ ॥

जो अव्यभिचारी भक्ति योग से मुझको सेवन करता है, वह इन गुणों को लाँघकर ब्रह्मभाव की प्राप्ति के योग्य होता है ॥ २६ ॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ २७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥ ॥

न चेत्कथं तत्राह । ब्रह्मण इति । हि यस्मात् । अव्ययस्य । ब्रह्मणोऽक्षरधाम्नः । अमृतस्य मोक्षस्य च । शाश्वतस्य । एकांतिकस्य च धर्मस्य । सुखस्य च । प्रतिष्ठीयतेऽस्यामिति प्रतिष्ठाऽऽश्रय आधार इति यावत् । अहमस्मि ॥ २७ ॥

इति श्रीभगवद्गीताटीकायामन्वयार्थदीपिकायां चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

क्योंकि अमृत अविनाशी ब्रह्म की, शाश्वत धर्म (ऐश्वर्य) को और ऐकान्तिक सुख की प्रतिष्ठा मैं हूँ ॥ २७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

पंचदशे श्रीपुरुषोत्तमयोगः समीरितः।
तत्तदीयरूपगुणमाहात्म्यादिविवेचनैः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥

इदानीं विश्वं तरुरूपकेण निरूपयन्नाह। ऊर्ध्वमिति। ऊर्ध्वं ब्रह्मलोकस्थं मूलं यस्य तम्। अधस्तदर्वाचीना शाखा यस्य तम्। अव्ययं सृष्टिप्रवाहरूपेण नित्यम्। अश्वत्थं विश्ववृक्षम्। प्राहुः। छंदांसि वेदाः। यस्य। पर्णानि दलानि संति। यः। तम्। वेद। सः। वेदविद्वेदज्ञोऽस्ति ॥ १ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—ऊपर जड़वाले और नीचे शाखाओंवाले अश्वत्थ को अव्यय कहते हैं; वेद जिसके पत्ते हैं। उसको जो जानता है, वह वेदवेत्ता है ॥१॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

अध इति। विश्ववृक्षस्य। गुणैर्गुणवृत्तिभिः प्रवृद्धाः विषयाः शब्दादयः प्रवालाः पल्लवा इव यासां ताः। अधो नृपश्वादिरूपाः। ऊर्ध्वंदेवादिरूपाश्च। शाखाः। प्रसृताः। संति। अधः। मनुष्यलोके। अनुसंततानि विरूढानि। कर्मपुण्यपापमनुबद्धुं पश्चाज्जनयितुं शीलमेषां तानि। मूलान्यवांतरमूलान्यपि संति ॥ २ ॥

नीचे और ऊपर इस (संसारवृक्ष) की शाखाएँ फैली हुई हैं। जो गुणों से बढ़ायी हुई हैं, विषय जिनकी कोंपलें हैं तथा नीचे मनुष्य लोक में कर्मरूप बन्धन वाली (इसकी) जड़ें फैली हुई हैं ॥ २ ॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥

संसारिणोऽस्य स्वरूपं न जानंतीति वदन्नाह। नेति। अस्य संसारवृक्षस्य रूपमाकारः। इह संसारे स्थितैर्जनैः नोपलभ्यते। तथा। अंतश्च नोपलभ्यते आदिश्चोर्ध्वंसंप्रतिष्ठा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देहैकभावेन वर्त्तनरूपा स्थितिश्च । इह नोपलभ्यते । तावान् जानंतीत्यर्थः । सुविरूढमूलमत्यंतबद्धमूलम् । एनम् । अश्वत्थं संसारतरुम् । दृढेन । असंगो वैराग्यं तद्रूपं यच्छस्त्रं तेन । छित्त्वा ॥ ३ ॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

तत इति । ततश्छेदनानंतरम् । तत्प्रसिद्धम् । पदं स्वप्राप्यं स्थानम् । परिमार्गितव्यम् । तत्पदमाह । यस्मिन् । गता यत्पदं प्राप्ता भक्ताः । भूयः । न निवर्त्तंति नावर्त्तंते । तत्परिमार्गप्रकारमाह । तमिति । यतो यस्मात् । पुराणी पुरातनी । प्रवृत्तिः सृष्टिरूपा मोक्षरूपा वा । प्रसृता । तमेव । आद्यम् । पुरुषम् । प्रपद्येऽहं शरणं प्राप्नोमि । एवमन्यन्यभक्त्याऽन्वेषणीयमित्यर्थः ॥ ४ ॥

इस लोक में इस (वृक्ष) का न तो वैसा रूप पाया जाता है; तथा (उसका) न अन्त, न आदि और न पूर्ण प्रतिष्ठा (ही)। इस दृढ़तापूर्वक जमी हुई जड़वाले वृक्ष को दृढ़ असङ्गरूपी शस्त्र से काटकर फिर मैं उसी आदि पुरुष की शरण ग्रहण करता हूँ, जिससे यह पुरानी प्रवृत्ति फैली हुई है (ऐसा दृढ़ निश्चय करके) वह पद ढूँढना चाहिये, जहाँ पहुँचे हुए फिर वापस नहीं लौटते ॥ ३-४ ॥

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥

मोक्षसाधनानि वदन्नाह । निर्मानेति । निर्गतौ मानमोहौ येभ्यस्ते । जितः संगो विषयासक्तिरूप एव दोषो यैस्ते । अध्यात्मनित्या आत्मस्वरूपवेदनसंततरताः । विशेषेण निवृत्तः कामो भोगेच्छा येषां ते सुखदुःखसंज्ञैः । द्वंद्वैः विमुक्ताः । अत एव । अमूढा विवेकिनो ये वर्तंते । अव्ययम् । तदक्षरब्रह्माख्यम् । पदम् । गच्छंति ॥ ५ ॥

मान-मोह-से रहित, सङ्गदोष को जीत लेनेवाले, सदा अध्यात्म में स्थित, निवृत्ति कामनाओंवाले और सुख-दुःख नामक द्वन्द्वों से मुक्त हुए ज्ञानी पुरुष उस अविनाशी पद को प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

तदेव धाम प्रशंसन्नाह । नेति । सूर्यः । तद्ब्रह्मपुरेतिप्रसिद्धं पदम् । न भासयते न प्रकाशयति । शशांको न । पावकोऽग्निश्च न भासयते । यच्च । गत्वा प्राप्य । न निवर्तंते मद्भक्तानपुनरावर्त्तंते । परमं सर्वोत्तमम् । तत् । मम । धाम भवति ॥ ६ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उस (आत्मज्योति) को न सूर्य प्रकाशित करता है, न चन्द्रमा और न अग्नि। जिसको प्राप्त होकर फिर नहीं लौटते, वह मेरा परम धाम है ॥ ६ ॥

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

अथाविद्यामुक्तजीवलक्षणमाह । ममेति । जीवलोके ब्रह्मांडे स्थितः । सनातनः । जीवभूतो जीवसंज्ञो यः क्षेत्रज्ञः । मनः षष्ठं येषां तानि । प्रकृतावनादिविषयवासनाढ्यस्वभावे तिष्ठंतीति तथोक्तानि । इन्द्रियाणि । कर्षति स्वस्वभावेभ्यः प्रत्याहरति स मद्भक्तः । मम । एव । अंशः । मदुपासनया विषयजयरूपं मदैश्वर्यांशं प्राप्त इत्यर्थः ॥ ७ ॥

मेरा ही जीवरूप सनातन अंश जीवलोक में प्रकृति में स्थित मनसहित छः इन्द्रियों को खींचता है ॥ ७ ॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥

अथ बद्धजीवः एतानींद्रियादीनि । गृहीत्वा । यत् । शरीरम् । अवाप्नोति । यच्च । उत्क्रामति त्यजति ॥ ८ ॥

(इन्द्रियों का) ईश्वर (यह जीव) जिस शरीर को छोड़ता है, उससे जिस शरीर में जाता है, वहाँ (इन इन्द्रियों) को वैसे ही पकड़कर ले जाता है, जैसे वायु (गन्ध के) स्थानों से गन्धों को (ले जाता है) ॥ ८ ॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

श्रोत्रमिति । अयं जीवः । श्रोत्रम् । चक्षुः । स्पर्शनं त्वचम् । रसनम् । घ्राणं च । मनश्चैव । अधिष्ठाय । विषयान् । उपसेवते भुनक्ति ॥ ९ ॥

श्रोत्र, नेत्र, त्वचा, रसना और घ्राण को तथा मन को भी अधिष्ठान बनाकर यह (जीव) विषयों का सेवन करता है ॥ ९ ॥

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥

उत्क्रामंतमिति । उत्क्रामंतं प्राणं त्यजंतम् । स्थितं देहेऽवस्थितं वा । भुंजानं विषयभोगं कुर्वाणं वाऽपि । गुणैः सत्वादिभिरन्वितम् । यद्वा । अगुणान्वितं गुणांस्त्यक्त्वा मुक्तदशायां स्थितं द्विविधं क्षेत्रज्ञम् । विमूढाः । नानुपश्यंति । ज्ञानचक्षुषो देहात्मनोर्विवेकवंतः । पश्यन्ति ॥ १० ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुणों से युक्त (जीवात्मा) को (शरीर से) निकलते हुए, (शरीर में) स्थित, अथवा (विषयों को) भोगते समय मूढ पुरुष नहीं देखते हैं, ज्ञान नेत्रवाले देखते हैं ॥१०॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ ११ ॥

यतन्त इति । यतंतो निर्मानित्वादिसाधनैर्यत्नं कुर्वंतः । योगिन एव । आत्मनि देहे । अवस्थितम् । एनं जीवात्मानम् । पश्यंति । च एवार्थे । यतः । अपि । अकृतात्मानः पूर्वोक्तसाधनै रहिताः । अत एव । अचेतसो यथावस्थितात्मज्ञानहीना जनाः । एनमात्मानम् । पश्यंति ॥ ११ ॥

यत्न करनेवाले योगीजन इसको आत्मा में स्थित देखते हैं; परन्तु अशुद्ध चित्तवाले अविवेकी पुरुष यत्न करते हुए भी इसको नहीं देख पाते ॥ ११ ॥

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२ ॥

यत्र यत्र यदैश्वर्यमस्ति तत्सर्वं मदीयमेवास्तीत्याह चतुर्भिः । यदिति । यत्तेजः । आदित्यगते सूर्ये स्थितं सत् । यच्च । चंद्रमसि यच्च । अग्नौ च स्थितं सत् । तत्तेजः । मामकं मदीयम् । विद्धि ॥ १२ ॥

जो सूर्यगत तेज समस्त जगत् को प्रकाशित करता है और जो (तेज) चन्द्रमा में है और जो अग्नि में हैं, उस तेज को तू मेरा ही जान ॥ १२ ॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १३ ॥

गामिति । अहम् । गां पृथिवीम् आविश्य । ओजसा । भूतानि । धारयामि । रसोऽमृतमात्मा स्वरूपं यस्य सः । सोमः । भूत्वा सर्वार्थः । ओषधीः । पुष्णामि च ॥१३॥

पृथिवी में प्रवेश करके मैं अपने ओज से समस्त भूतों को धारण करता हूँ और रसमय चन्द्रमा होकर सारी औषधियों को पुष्ट करता हूँ ॥ १३ ॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

अहमिति । अहम् । वैश्वानरो जाठराग्निः । भूत्वा । प्राणिनाम् । देहमाश्रितो देहे स्थितः । प्राणश्च अपानश्च ताभ्यां समायुक्तश्च सन् । चतुर्विधम् । अन्नम् । पचामि । चंद्रवैश्वानरयोः पोषणं पचनात्मकमैश्वर्यं मदीयमित्यर्थः ॥ १४ ॥

मैं प्राणियों के देह में रहनेवाला वैश्वानर होकर प्राण-अपान के साथ युक्त होकर चार प्रकार के भोजन को पचाता हूँ ॥ १४ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

सर्वस्येति। सर्वस्य ब्रह्मादिस्थावरांतस्य प्राणिनः हृदि अहम्। सन्निविष्टः। अत एव। मत्तः स्मृतिरनुभूतं स्मरणम्। ज्ञानमिन्द्रियसंयोगजम्। अपोहनमूहनमज्ञाननिवृत्तिश्च भवति। सर्वैः। वेदैश्च। अहमेव। वेद्योऽस्मि। वेदांत उपनिषद्भागस्तं करोतीति तथोक्तः वेदविच्च। अहमेवास्मि ॥ १५ ॥

मैं सबके हृदय में प्रविष्ट हूँ; मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है। सब वेदों से मैं ही जानने योग्य हूँ और मैं ही वेदान्त का (वेदोक्त फल का) कर्ता और वेद का जाननेवाला हूँ ॥ १५ ॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥

इदानीं क्षराक्षरनिरूपणेन स्वस्य पुरुषोत्तमत्वं निरूपयति त्रिभिः। द्वाविति। क्षरः अक्षरश्च। इमावेतत्संज्ञौ। द्वौ। पुरुषौ। लोके ब्रह्माडे विख्यातावेव स्तः। तयोः स्वरूपमाह क्षर इति। सर्वाणि। भूतानि। क्षरोनाद्यविद्याबद्धत्वात्क्षरसंज्ञानि। कुटस्थो मायायामुक्तत्वा-दविकारी मुक्तसमूहः अक्षरोऽक्षरसंज्ञः। उच्यते ॥ १६ ॥

लोक में ये दो पुरुष हैं—क्षर और अक्षर। क्षर तो समस्त भूतप्राणी है और अक्षर कूटस्थ (आत्मज्ञानी) कहलाता है ॥ १६ ॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥

उत्तम इति। अव्ययः। यः। ईश्वरः। परमात्मा। लोकत्रयं ब्रह्मपुरं प्रकृति-पुरुषलोकस्तत्कार्याणां लोकश्च तानित्यर्थः। आविश्यांतरात्मना प्रविश्य बिभर्त्ति धारयति। स तु। अन्यः क्षराक्षराभ्यां परः उत्तमः पुरुषः परमात्मा। इति उदाहृत उक्तः। सोऽत्राहमस्मीति भावः ॥ १७ ॥

परन्तु उत्तम पुरुष दूसरा है, जो परमात्मा कहलाता है। और जो अवि-नाशी ईश्वर तीनों लोक में प्रवेश करके उन्हें धारण करता है ॥ १७ ॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥

यस्मादिति। यस्माद्धेतोः। अहम्। क्षरं बद्धजीववृंदम्। अतीतोऽतिक्रम्य स्थितः। अक्षरान्मुक्तपुरुषवृंदादपि च। उत्तमः स्वरूपस्वभावादिभिः। श्रेष्ठतमोऽस्मि। अतः। लोके। वेदे च। पुरुषोत्तमः। इति। प्रथितो विख्यातोऽस्मि ॥ १८ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिसलिये कि मैं क्षर से अतीत और अक्षर से भी उत्तम हूँ। इसलिए लोक और वेद में 'पुरुषोत्तम' नाम से प्रसिद्ध हूँ ॥ १८ ॥

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १९ ॥

य इति । हे भारत । यो मद्भक्तः । असंमूढो मोहरहितः सन् । एवमुक्तप्रकारेण । मां प्रत्यक्ष श्रीहरिमेव । पुरुषोत्तमम् । जानाति । सः । सर्वभावेन गुरुसुहृदीष्टदेवादिसमग्रभावेन । मां प्रत्यक्षम् । भजति । सः । सर्वविच्च तेन सर्वं ज्ञातम् ॥ १९ ॥

भारत ! जो असंमूढ पुरुष इस प्रकार मुझको पुरुषोत्तम जानता है, वह सब कुछ जानता है और मुझको सर्वभाव से भजता है ॥ १९ ॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इतीति । हे अनघ हे भारत । इत्येवम् । मया । इदम् । गुह्यतमम् । शास्त्रम् । उक्तम् । एतच्छास्त्रम् । बुद्ध्वा ज्ञात्वा । जनः । बुद्धिमान् । कृतकृत्यः कृतार्थश्च । स्याद्भवेत् ॥ २० ॥

इति श्रीभगवद्गीताटीकायामन्वयार्थदीपिकायां पंचदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

निष्पाप अर्जुन ! इस प्रकार यह गुह्यतम शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया है। इसे जानकर पुरुष बुद्धिमान् और कृतकृत्य हो जाता है ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ षोडशोऽध्यायः

अत्र दैवासुरसंपद्विभागयोग ईरितः।
षोडशे तत्तल्लक्षणफलाद्युक्त्या पृथक्पृथक् ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥

अथ दैव्यासुरीसंपदोर्लक्षणानि वदन्नादौ दैवीसंपदमाह त्रिभिः। अभयमिति। अभयं भयरहितत्वम्। सत्त्वस्यांतःकरणस्य संशुद्धिः ज्ञानयोगे व्यवस्थितिः। दानं सत्पात्रे ज्ञानवित्तयोरर्पणम्। दम इंद्रियदमनम्। यज्ञो जपयज्ञादिः। स्वाध्यायः सच्छास्त्राभ्यासः। तपः स्वधर्मः। आर्जवं निश्छद्मत्वं च ॥ १ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—भारत! अभय, सत्त्वसंशुद्धि, ज्ञानयोगव्यवस्थिति, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, आर्जव ॥ १ ॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥

अहिंसेति। अहिंसा। सत्यम्। अक्रोधः। त्यागो बंधनकृद्वस्तुत्यजनशीलता। शांतिश्चित्तोपशमः। अपैशुनं परगुह्याप्रकाशनम्। भूतेषु प्राणिषु। दया। अलोलुप्त्वं भोगेच्छारहितत्वम्। मार्दवं चिन्ताकाठिन्यम्। ह्रीरकार्यप्रवृत्तौ लज्जा। अचापलं च ॥ २ ॥

अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, अपैशुन, प्राणियों पर दया, अलोलुपता, मार्दव ह्री और अचपलता ॥ २ ॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

तेज इति। तेजो दुर्जनैरधृष्यत्वम्। क्षमा। धृतिर्धैर्यम्। शौचं द्विविधम्। अद्रोहो जंतूनां दुःखाकरणम्। नातिमानिता निरभिमानित्वं च। हे भारत। एते गुणाः। दैवीम्। संपदम्। अभिजातस्य जनस्य। भवंति ॥ ३ ॥

तेज, क्षमा, धैर्य, शौच, अद्रोह, नातिमानिता—हे अर्जुन! (ये सब गुण) दैवी सम्पदा में उत्पन्न हुए (पुरुष) में होते हैं ॥ ३ ॥

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥ ४ ॥

अथासुरीसंपदमाह दम्भ इति। दंभः। दर्पो गर्वः। अभिमानः। क्रोधः। पारुष्यं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चाक्काठिन्यम् । अज्ञानमविवेकश्च । हे पार्थ । एतदादिदुर्गुणाः । आसुरीम् । संपदम् । अभिजातस्यैव भवंति ॥ ४ ॥

अर्जुन ! दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य और अज्ञान (ये सब दुर्गुण) आसुरी सम्पदा में उत्पन्न हुए (पुरुष) में होते हैं ॥ ४ ॥

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥
द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

अनयोः संपदोर्गुणदोषौ वदन्नाह । दैवीति । दैवीसंपद् । विमोक्षाय संसृतिबंधनाद्वि-मुक्तये मता । आसुरी संपत् । निबंधाय मता । हे पांडव । मा शुचः । दैवीम् । संपदम् । अभिजातः । असि द्वाविति । हे पार्थ । अस्मिन् । लोके दैव आसुरश्चेति । द्वौ द्विविधावेव भूतानां प्राणिनां सर्गौ शुभाशुभकर्मभिरुत्पत्ती स्तः । तत्र । दैवः सर्गः । विस्तरशः । प्रोक्तः पूर्वाध्यायेषूक्तः । अथ । आसुरं सर्गम् । मे मत्तः त्वं शृणु ॥ ६ ॥

दैवी सम्पदा में मोक्ष के लिये और आसुरी सम्पदा बन्धन के लिये मानी जाती है। पाण्डुकुमार ! (तू) शोक मत कर, तू दैवी सम्पदा में उत्पन्न हुआ है ॥ ५ ॥

इस लोक में (कर्माधिकारी) प्राणियों की सृष्टि दो प्रकारकी है—दैवी और आसुरी । अर्जुन ! दैवी सृष्टि तो विस्तार पूर्वक, कही जा चुकी है, अब आसुरी मुझसे सुन ॥ ६ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥

तं वदति द्वादशभिः प्रवृत्तिमिति । आसुरा असुरसर्गभवा जाताः । प्रवृत्तिं धर्मार्थ-काससाधनमार्गम् । निवृत्तिं मोक्षमार्गं च । न विदुः तेष्वासुरजनेषु । शौचं द्विविधम् । न विद्यते । आचारो वर्णाश्रमधर्मोऽपि न विद्यते । सत्यं च न विद्यते ॥ ७ ॥

आसुर लोग प्रवृत्ति और निवृत्ति को नहीं जानते । उनमें न शौच, न आचार और न सत्य ही होता है ॥ ७ ॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

असत्यमिति । ते आसुराः जगद्विश्वम् । असत्यं रज्जुसर्पवन्मिथ्या । नास्ति प्रतिष्ठा यस्य तत् । अतः नास्ति शुभाशुभकर्मफलप्रद ईश्वरो यस्य तथाभूतम् । आहुः । ननु । तर्हि ते विश्वस्योत्पत्तिं कस्माद्वदंतीति चेत्तत्राह । अपरस्परेति । परस्परं स्त्रीपुंसोरन्योन्यसंबंधेन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संभूतमुत्पन्नं न भवतीति तथाभूतम् । अन्यद्वस्तुमात्रं किमस्ति न किमपि । अतः कामः स्त्रीपुरुषयोः संभोग एव हेतुर्यस्य तथाभूतं जगदस्तीति वदंति ॥ ८ ॥

वे कहते हैं कि जगत् असत्य, अप्रतिष्ठ और ईश्वररहित है। अपरस्पर (स्त्री-पुरुष के संयोग से) उत्पन्न हुआ है। काम के अतिरिक्त इसका दूसरा हेतु क्या हो सकता है ? ॥ ८ ॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

एतामिति एतां दृष्टिमुक्तविधस्वसिद्धांतम् । अवष्टभ्याश्रित्य । नष्टः सन्मार्गाद्भ्रष्ट आत्मा मनो येषां ते अतः । अल्पबुद्धयः । अत एव । उग्राणि कर्माणि येषां ते । अहिताः सर्वशत्रवस्ते दुर्जनाः । जगतः । क्षयाय । प्रभवंति हिंस्ररूपैरुत्पद्यते ॥ ९ ॥

इस प्रकार की दृष्टि का सहारा लेकर वे उग्र कर्म करनेवाले, नष्टात्मा अल्पबुद्धि और बुरा करनेवाले मनुष्य जगत् के नाश के लिये ही उत्पन्न होते हैं ॥ ९ ॥

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥

काममिति । दुष्पूरं पूरयितुमशक्यम् । कामम् । आश्रित्य दंभमानमदैरचिता युक्ताः अतः । अशुचीनि तामसदेवानां व्रतानि येषां तथाभूताः संतः । मोहाद्विपरीतज्ञानात् । असद्ग्राहान् दुराहान् । गृहीत्वा । प्रवर्त्तंते राजसतामसदेवताऽऽराधनां कुर्वन्ति ॥ १० ॥

दम्भ, मान और मद से युक्त अशुद्ध आचरणवाले लोग दुष्पूरणीय (कठिनता से पूर्ण होनेवाली) कामनाओं का आश्रय लेकर, मोह से असत् परिग्रहों का संग्रह करके वर्तते हैं ॥ १० ॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥

चिंतामिति । अपरिमेयां परिमातुमशक्याम् । प्रलयांतां यावज्जीवमनुवर्त्तमानाम् । चिंताम् । उपाश्रिताः । कामोपभोग एव परमः श्रेष्ठपुरुषार्थो येषां ते । एतावत्कामभोगादन्यदधिकं नास्तीति । निश्चिताः कृतनिश्चयास्ते च संति ॥ ११ ॥

प्रलयकाल में ही जिनका अन्त होता है ऐसी अपरिमित चिन्ताओं का आश्रय लेनेवाले तथा भोगों के उपभोग को ही श्रेष्ठ माननेवाले और इतना ही (परम पुरुषार्थ) है ऐसा निश्चय रखनेवाले मनुष्य—॥ ११ ॥

आशापाशशतैर्बद्धा कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥ १२ ॥

आशेति । आशा अप्राप्य भोगेच्छास्ता ये च पाशास्तेषां शतैः । बद्धाः । कामक्रोधपरायणास्ते । कामभोगार्थम् । अन्यायेन । अर्थसंचयान्भूरिद्रव्यम् । ईहंतेऽर्जयंति ॥ १२ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सैकड़ों आशापाशों से बँधे हुए और काम-क्रोध के परायण हुए भोगों को भोगने के लिये अन्यायपूर्वक अर्थ-सञ्चय की चेष्टा किया करते हैं ॥ १२ ॥

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥

तेषां मनोरथानाह त्रिभिः । इदमिति । इहामुत्रादि । मया । अद्यानेन साधनेन । लब्धम् । इमम् । मनोरथम् । अहं प्राप्स्ये । मे मम । इदं वस्तु । अस्ति । इदं बहुलमपि । धनम् । पुनः । भविष्यति ॥ १३ ॥

यह मुझे आज मिल गया और इस मनोरथ को मैं (फिर) प्राप्त करूँगा । यह धन तो मेरा है और यह (धन) भी फिर मेरा ही हो जायगा ॥ १३ ॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥ १४ ॥

असाविति । असौ । शत्रुः । मया । हतः । अपरानपि शत्रून् । अहं हनिष्ये । अहम् । ईश्वर । सर्वेषां स्वतंत्रनियंता । अहम् । भोगी भोगवानस्मि । अहम् । सिद्धः । बलवान् । सुखी चास्मि ॥ १४ ॥

अमुक शत्रु तो मुझसे मार डाला गया और दूसरों को भी मैं मार डालूँगा । मैं ईश्वर हूँ, मैं सिद्ध, बलवान् और सुखी हूँ ॥ १४ ॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ १५ ॥

आढ्य इति । अहम् । आढ्यो धनवान् । अभिजनवान्संबंधिजनाढ्यश्चास्मि । मया । सदृशः । अन्यः कः अस्ति । अहम् । यक्ष्ये यज्ञं करिष्ये । दास्यामि । मोदिष्ये । इति । अज्ञानविमोहितास्ते प्रवर्त्तन्ते ॥ १५ ॥

मैं धनवान् हूँ, कुलीन हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है ? यज्ञ करूँगा, दान करूँगा और मौज करूँगा । अज्ञान से मोहित लोग इस प्रकार (समझते हैं) ॥१५॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥

अनेकेति । अनेके ये मनोरथास्तेषु यच्चित्तं तेन विभ्रांताः । मोहरूपेण जालेन समावृता बद्धाः । कामभोग्येषु । प्रसक्तास्ते । अशुचौ पूयविण्मूत्रादिपरिपूर्णे । नरके । पतंति ॥ १६ ॥

अनेक सङ्कल्पों से जिनका चित्त अत्यन्त भ्रमित है ऐसे मोहजाल से घिरे हुए भोगों के उपभोग में फँसे हुए मनुष्य घोर नरक में गिरते हैं ॥ १६ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥

आत्मेति । आत्मना स्वेनैव संभाविता महांतो जाता नैव महापुरुषैः कृताः । अतः । स्तब्धाः महत्स्वप्यनम्राः । धनमानाभ्यां यो मदस्तेनान्विताः । ते । दंभेनैव न तु श्रद्धया । अविधिपूर्वकं यथा तथा नामयज्ञैर्नाममात्रयागैः । यजंते ॥ १७ ॥

अपने-आप महान् बने हुए, कुछ भी न करनेवाले, धन-मान के मद से युक्त मनुष्य नाममात्र के यज्ञ को दम्भ से और अविधिपूर्वक किया करते हैं ॥१७॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥

अहंकारम् । बलम् । दर्पम् । कामम् । क्रोधं च । संश्रिताः । आत्मा स्वयं च परेऽन्ये च तेषां देहेषु । अंतर्यामितया स्थितं माम् । प्रद्विषंतस्तेषां द्रोहमाचरंतः । अभ्यसूयकाः कल्याणरूपायां मम क्रियायां दोषमारोपयन्तस्संतस्ते यजंत इति पूर्वेणान्वयः ॥१८॥

अहंकार, बल, दर्प, काम और कोध का आश्रय लिये रहते हैं तथा वे (मेरी) निन्दा करनेवाले अपने और दूसरों के शरीर में (स्थित) मुझ ईश्वर से द्वेष करते हैं ॥ १८ ॥

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥

तेषां तत्स्वभावनाशः क्वापि न भवतीत्याह द्वाभ्याम् । तानिति । द्विषतो मां प्राणिजातं च द्रुह्यतः । अतः । क्रूरान् । अशुभान् दुष्कर्मकारिणश्च । नराधमान् । तान् । संसारेषु । तत्रापि । आसुरीषु । एव । योनिषु । अजस्रं पुनः पुनः । अहं कर्मफलप्रद ईश्वरोऽहम् । क्षिपामि ।१९।

उन (मुझसे) द्वेष करनेवाले क्रूर, अशुभ नराधमों को मैं संसार में निरन्तर आसुरी योनियों में ही डालता हूँ ॥ १९ ॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ २० ॥

आसुरीमिति । हे कौंतेय । आसुरीम् । योनिम् । आपन्नाः । प्राप्ताः जन्मनि जन्मनि प्रतिजन्म । मूढास्तमोऽधिकत्वादज्ञास्ते । माम् । अप्राप्यैव । ततः पूर्वस्मात् । अधमाम् । गतिम् । यांति प्राप्नुवंति ॥ २० ॥

अर्जुन ! आसुरी योनि को प्राप्त होकर वे मूढ लोग मुझको न पाकर जन्म-जन्म में और भी नीच गति को ही प्राप्त होते हैं ॥ २० ॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ २१ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आसुरभावजनकं दोषत्रयं त्याज्यतयाऽऽह । त्रिविधमिति । यस्मात् कामः । क्रोधः । तथा । लोभश्च । त्रिविधमेतत्त्रिप्रकारम् । इदम् । नरकस्य । द्वारं प्राप्तिहेतुभूतम् । आत्मनः । नाशनमधोगतिप्रापकं च भवति । तस्मात् । एतत् । त्रयम् । मद्भक्तस्त्यजेत् ॥ २१ ॥

काम, क्रोध और लोभ—ये नरक के तीन द्वार आत्मा का पतन करनेवाले हैं । इसलिये इन तीनों का त्याग कर देना चाहिये ॥ २१ ॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ २२ ॥

एतैरिति । हे कौंतेय । तमसो नरकस्य द्वारैः । त्रिभिः । एतैः कामक्रोधलोभैः । विमुक्तः । नरः । आत्मनः । श्रेयो मोक्षसाधनम् । आचरति । ततोऽनंतरम् । परां गतिमात्यंतिककल्याणम् । याति ॥ २२ ॥

कुन्तीपुत्र अर्जुन ! नरक के इन तीनों द्वारों से छूटा हुआ मनुष्य अपने कल्याण का आचरण करता है, इसलिये परम गति को प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥

सच्छास्त्रोक्तधर्माद्याचरणं विना कल्याणं न स्यादित्याह । य इति । यः । शास्त्रविधिं तदुदितनियमाचरणम् । उत्सृज्य त्यक्त्वा । कामकारतः स्वेच्छाचारेण । वर्त्तते । सः । सिद्धिं सद्गुणवृद्ध्यात्मिकाम् । न । अवाप्नोति । सुखमैहिकपारलौकिकशर्म । नावाप्नोति । परां गतिं सर्वोत्तमं मद्धाम च । नावाप्नोति ॥ २३ ॥

जो शास्त्र विधि का त्याग करके अपनी इच्छानुसार बर्तता है, वह न सिद्धि को प्राप्त होता है, न सुख को और न परमगति को ही ॥ २३ ॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

तस्मादिति । यस्मात् । ते तव । कार्यं च । अकार्यं च तयोर्व्यवस्थितिस्तस्याम् । शास्त्रम् । प्रमाणमस्ति । तस्माद्धेतोः । शास्त्रविधानेन शास्त्रविधिनोक्तमुदितम् । कर्म । ज्ञात्वा । इह क्षात्रधर्मे स्थितस्त्वम् । कर्त्तुं स्वोचितं विधातुम् । अर्हसि योग्योऽसि ॥ २४ ॥

इति श्रीभगवद्गीताटीकायामन्वयार्थदीपिकायां षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इसलिये कार्य और अकार्य की व्यवस्था में तेरे लिये शास्त्र ही प्रमाण है । अतः तुझे यहाँ शास्त्रविधान में कहे हुए तत्त्व को समझ कर कर्म करना चाहिये ॥२४॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ सप्तदशोऽध्यायः

श्रद्धात्रयविभागात्मयोगः सप्तदशे स्फुटम् ।
सत्त्वरजस्तमआढ्यपुंसामुक्तः प्रदर्शनैः ॥ १ ॥

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

शास्त्रविधिं त्यक्त्वा श्रद्धया ये यजंति तेषां निष्ठामर्जुनः पृच्छति । य इति । हे कृष्ण । शास्त्रविधिम् । उत्सृज्य । ये तु जनाः श्रद्धया । अन्विता युक्ताः संतः । यजंते । तेषाम् । निष्ठा स्थितिः । का कीदृशी । अहो इति प्रश्ने । सा । सत्त्वं सात्त्विकी । रजो राजसी । तमस्तामसी वा ॥ १ ॥

अर्जुन ने कहा—परन्तु श्रीकृष्ण ! जो शास्त्रविधि को छोड़कर श्रद्धा से युक्त हुए यज्ञ करते हैं, उनकी निष्ठा क्या है ? सत्त्व है या रज है अथवा तम ? ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥

त्रिविधेति । हे अर्जुन । देहिनाम् । स्वभावजा । सा । श्रद्धा । सात्त्विकी । राजसी । तामसी चेति । त्रिविधा । एव भवति । तां त्रिविधाम् । त्वं मत्तः । शृणु ॥ २ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—प्राणियों की यह स्वभावजन्य श्रद्धा सात्त्विकी, राजसी और तामसी—ऐसे तीन प्रकार की होती है, उसको तू सुन ॥ २ ॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥

साऽप्यंतःकरणानुरूपा । तदनुसारेण जनोऽपि त्रिविधो भवतीत्याह । सत्त्वेति । हे भारत । सर्वस्य । सत्त्वस्य सत्त्वरजस्तमोयुक्तस्यांतःकरणस्यानुरूपा श्रद्धा । भवति । अतः । अयम् । पुरुषः । श्रद्धामयः श्रद्धाप्रधानोऽस्ति । यद्या सात्त्विक्यादिः श्रद्धा यस्य तथाभूतो यः स एवास्ति ॥ ३ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भारत ! अन्तःकरण के अनुरूप सबकी श्रद्धा हुआ करती है। यह पुरुष श्रद्धामय है; जो जिस श्रद्धावाला है, वह वही होता है ॥ ३ ॥

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

यजंत इति । सात्त्विका जनाः । देवान् । राजसा जनाः । यक्षरक्षांसि च । यजंते । अन्ये । तामसा जनाः । प्रेतान् । भूतगणांश्च । यजंते ॥ ४ ॥

सात्त्विक पुरुष देवताओं को पूजते हैं, राजस यक्ष और राक्षसों को और तामस लोग प्रेतों और भूतों के समुदायों को पूजते हैं ॥ ४ ॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

तेष्वप्यधिकरजस्तमोयुक्तानाह द्वाभ्याम् । अशास्त्रेति । कर्षयंत इति । दंभाहंकाराभ्यां संयुक्ताः । कामः फलेच्छा च रागः स्त्रीपुंसोरन्योन्यप्रीतिश्च बलं दुराग्रहश्च तैरन्विताः । अचेतसो विवेकहीनाः शरीरस्थम् । भूतानाम् । भूतानां भूम्यादीनां ग्रामं समूहम् । कर्षयंतो वृथातपोभिः कृशं कुर्वतः । अतः शरीरस्थं जीवांतर्यामित्वेन स्थितम् । मां च । मदाज्ञोल्लंघनेन कर्षयंतः । ये जनाः । शास्त्रविहितं न भवतीति तथोक्तम् । घोरम् । तपः । तप्यंते कुर्वंति । तान् । आसुरनिश्चयानेव । विद्धि इति द्वयोरेकान्वयः ॥ ५–६ ॥

जो लोग शास्त्रविरुद्ध घोर तप तपते हैं, वे दम्भ, अहङ्कार से युक्त और काम, आसक्ति तथा बल से समन्वित पुरुष शरीर में स्थित भूतसमूह को और वैसे ही शरीर के भीतर स्थित मेरे अंशभूत जीव को कष्ट पहुँचाते हैं; अतः उनको तू आसुरी निश्चय वाले जान ॥ ५–६ ॥

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

आहारयज्ञादीनां त्रैविध्यमाह षोडशभिः । आहार इति सर्वस्यापि जनस्य । आहारस्तु । सत्त्वादित्रिगुणाढ्यत्वात् । त्रिविधः । प्रियः । भवति । तथा । यज्ञः । तपः दानं च । एतत्त्रयमपि त्रिविधमस्ति । तेषां सर्वेषाम् । इमं वक्ष्यमाणम् । भेदम् । शृणु ॥ ७ ॥

आहार भी सबको तीन प्रकार का प्रिय होता है। (ऐसे ही) यज्ञ, तप तथा दान भी। उनके इस भेद को तू सुन ॥ ७ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ ८ ॥

आयुरिति । आयुर्जीवनं च सत्त्वमंतःकरणं च बलं देहसामर्थ्यं च आरोग्यं च सुखं च प्रीतिरुचिश्च तासां विवर्द्धनाः । रस्या रसयुक्ताः । स्निग्धाः स्नेहयुक्ताः स्थिरा देहस्थितिकराः । हृद्या हृदयंगमाश्च । आहाराः । सात्त्विकस्य जनस्य प्रियाः संति ॥ ८ ॥

आयु, ज्ञान, वल, आरोग्य, सुख और प्रीति के बढ़ानेवाले रसदार, चिकने, स्थायी और चित्त को रमणीय लगनेवाले आहार सात्त्विक पुरुष को प्रिय होते हैं ॥ ८ ॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

कट्विति । अतिशब्दः कट्वादिसर्वस्वपि योजनीयः । कटुश्चाम्लश्च लवणश्चात्युष्णश्च तीक्ष्णश्च रूक्षश्च विदाही च तथोक्ताः । अतिशयितास्ते सर्वे इत्यर्थः । दुःखशोकामयान्प्रददतीति तथोक्ताः । आहारा भोजनानि । राजसस्य रजोगुणिनः । इष्टाः प्रिया भवंति ॥ ९ ॥

कड़वे, खट्टे, नमकीन, बहुत गरम, तीखे, रूखे और जलन पैदा करनेवाले तथा जो दुःख, शोक और रोग उत्पन्न करने वाले हैं ऐसे आहार राजस पुरुष को प्रिय होते हैं ॥ ९ ॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥

यातयाममिति । यातौ पाकादनंतरं व्यतीतौ यामौ प्रहरौ यस्य तत् । गतरसं विरसतां प्राप्तम् । पूति दुर्गंधम् । पर्युषितं पचनादनंतरं व्यतीतरात्रम् । उच्छिष्टं सात्त्विकदेवगुर्वादिभ्योऽन्यभुक्तावशिष्टम् । अपिशब्देन कुपथ्यं च । अमेध्यमपवित्रं च । यद्भोजनं तत् । चकाराद्भंगाऽहिफेनतमालादिकं च । तामसस्य तमोगुणिनः प्रियं भवति ॥ १० ॥

जो बहुत देर का रक्खा हुआ, रसहीन, दुर्गन्धित, वासी, जूँठा और अमेध्य आहार है वह तामस मनुष्यों को प्रिय होता है ॥ १० ॥

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥ ११ ॥

अफलेति । अफलाकांक्षिभिर्निष्कामैर्जनैः । विधिदृष्टः शास्त्रोक्तमंत्रद्रव्यादियुक्तः । यष्टव्यं भगवत्प्रीत्यर्थं मया यज्ञः कर्त्तव्य एव । इति । मनः । समाधाय स्थिरीकृत्य । यः । यज्ञः । इज्यते क्रियते । सः । सात्त्विको ज्ञेयः ॥ ११ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

फल कामना से रहित पुरुषों के द्वारा 'यज्ञ करना ही कर्तव्य है' इस भाव से मन का समाधान करके जो शास्त्रविधि के अनुसार यज्ञ किया जाता है, वह सात्त्विक होता है ॥ ११ ॥

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥

अभिसंधायेति । हे भरत श्रेष्ठफलं तु फलमेव । अभिसंधायोद्दिश्य । दंभार्थं स्वश्रेष्ठत्वख्यापनायापि च । यद्यो यज्ञः । इज्यते क्रियते । तं यज्ञम् । राजसम् । विद्धि ॥ १२ ॥

परन्तु भरतश्रेष्ठ ! जो फल को लक्ष्य बनाकर और दम्भ के लिये भी किया जाता है, उस यज्ञ को तू राजस जान ॥ १२ ॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

विधीति । विधीहीनं सच्छास्त्रोक्तविधिशून्यम् । असृष्टान्नम् । सत्पात्रेभ्यः अदत्तान्नम् । मंत्रैर्वेदपुराणोक्तैर्हीनम् । अदक्षिणं यथाशास्त्रदक्षिणारहितम् । श्रद्धाविरहितं च । यज्ञम् । तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

विधिहीन, शास्त्रविहित अन्न से रहित मन्त्रहीन, दक्षिणाहीन और श्रद्धा रहित यज्ञ को तामस कहते हैं ॥ १३ ॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥

आदौ देहवाङ्मानसतपोलक्षणमाह त्रिभिः । देवेति । देवद्विजगुरुप्राज्ञानां पूजनम् । शौचम् । आर्जवमृजुस्वभावत्वम् । ब्रह्मचर्यम् । अहिंसा परपीडावर्जनं च । एतल्लक्षणम् । शारीरं शरीरसंबंधि । तपः । उच्यते ॥ १४ ॥

देव, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानी का पूजन, शौच, आर्जव, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शारीरिक तप कहलाता है ॥ १४ ॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥

अनुद्वेगकरमिति । अनुद्वेगकरं सर्वेषामभयंकरम् । सत्यम् । प्रियहितं श्रोतॄणां प्रीतिजनकं हितजनकं हितकरं च । यत् । वाक्यम् । यच्च । स्वाध्यायस्य सच्छास्त्रस्याभ्यसनं च तत् । वाङ्मयं वाचिकम् । तपः उच्यते ॥ १५ ॥

उद्वेग न करने वाले, सत्य, प्रिय और हितकारक वाक्य तथा स्वाध्याय का अभ्यास—यह वाचिक तप कहलाता है ॥ १५ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

मन इति । मनःप्रसादो मनसः शुद्धत्वम् । सौम्यत्वमक्रूरत्वम् । मौनम् । निष्फलालापवर्जनम् । आत्मनो मनसो विनिग्रहोऽसद्विषयेभ्यः प्रत्याहरणम् । भावसंशुद्धिरात्मपरमात्मेतरविषयध्यानशून्यत्वं च । इत्येतत् । मानसम् । तपः । उच्यते ॥ १६ ॥

मन की प्रसन्नता, सौम्यता, मौन, आत्मविनिग्रह और भावसंशुद्धि—इतना यह मानस तप कहलाता है ॥ १६ ॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥

श्रद्धयेति । अफलाकांक्षिभिः । युक्तैर्मन्दभक्त्याढ्यैः । नरैः । परया श्रेष्ठया । श्रद्धया तप्तम् । तत् शारीरादित्रिविधम् । तपः । सात्त्विकम् । परिचक्षते ॥ १७ ॥

फल की आकांक्षा न रखने वाले युक्त पुरुषों के द्वारा परम श्रद्धा के साथ तपा हुआ वह तीन प्रकार का तप सात्त्विक कहलाता है ॥ १७ ॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥

सत्कारेति सत्कारमानपूजार्थमेव स्वस्येति शेषःदंभेन । यत् । तपः । क्रियते । अत एव । चलस्थिरफलम् । अध्रुवं क्षणिकम् । तत्तपः । इह लोके । राजसम् । प्रोक्तम् ॥ १८ ॥

जो तप सत्कार, मान और पूजा के लिये तथा दम्भ के साथ किया जाता है, वह चञ्चल और अस्थिर (तप) यहाँ राजस कहलाता है ॥ १८ ॥

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

मूढेति । मूढा मूर्खास्तेषां ग्राहो दुराग्रहस्तेन । आत्मनः स्वस्य । पीडयाऽतिक्लेशेन । परस्यान्यस्य । उत्सादनार्थं हिंसनाय वा । यत् । तपः । क्रियते तत् । तामसम् । उदाहृतम् ॥ १९ ॥

जो तप मूढ-आग्रह से, आत्मा को पीड़ा देकर अथवा दूसरे का अनिष्ट करने के लिये किया जाता है, वह तामस कहा गया है ॥ १९ ॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥

दातव्यमिति । देशे सद्देशे । काले पुण्यदिने । पात्रे सत्पात्रे च । दातव्यं मया दानं कर्तुं योग्यम् । इति विवेकेन । अनुपकारिणे । यत् । दानम् । दीयते । तत् । सात्त्विकं दानम् । स्मृत्योदितम् ॥ २० ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'देना कर्तव्य है' ऐसा (समझ कर) जो दान देश, काल और पात्र में अनुपकारी को दिया जाता है, वह दान सात्त्विक बतलाया गया है ॥ २० ॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥

यदिति । प्रत्युपकारार्थमयं ममोपकारं करिष्यतीत्येतदर्थम् । फलं स्वर्गपुत्रादिकम् । उद्दिश्य वा । परिक्लिष्टमंतःकरणक्लेशसहितं यथा तथा । यत्पुनर्यत् तु दानम् । दीयते । राजसम् । उदाहृतम् ॥ २१ ॥

पर जो प्रत्युपकार के लिये या पुनः फल के उद्देश्य से दिया जाता है, तथा जो अशुभ द्रव्य से युक्त होता है, वह दान राजस बतलाया गया है ॥ २१ ॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

अदेशेति । अदेशकाले अपवित्रस्थाने सूतकादिसमये च । अपात्रेभ्यश्च । यद् । दानम् । दीयते । असत्कृतं सत्पात्रेष्वपि प्रेमशून्यम् । अवज्ञातं तिरस्कारसहितं च दीयते । तद्दानम् । तामसम् । उदाहृतम् ॥ २२ ॥

जो दान अयोग्य देश-काल में, बिना सत्कार और विना आदर के अपात्रों को दिया जाता है, वह (दान) तामस बतलाया गया है ॥ २२ ॥

ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ २३ ॥

अथ भगवद्वाचकानामोंतत्सदिति शब्दानां वैदिकयज्ञदानादिषु च यत् प्रकारमाह । ॐ इति त्रिविधः ओं तत्सदित्येवंरूपो शब्दः । ब्रह्मणः परब्रह्मणो मम निर्देशो वाचकः । स्मृतः । तेन त्रिविधशब्देन । ब्राह्मणास्तदाद्यास्त्रैनर्णिकाः वेदाः । यज्ञाश्च । पुरा सृष्टिकाले । विहिता मयोत्पादिताः ॥ २३ ॥

'ॐ तत्, सत् ऐसा तीन प्रकार का ब्रह्म (वेद) का निर्देश बतलाया गया है । उसी से पहले ब्राह्मण, वेद और यज्ञ रचे गये हैं ॥ २३ ॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥

तस्मादिति । यस्मादेव तस्माद्धेतोः । ॐ इति । उदाहृत्य ब्रह्मवादिनां वेदपाठकानाम् । विधानोक्ता वेदपुराणविधिनोक्ता वेदपुराणविधिना प्रोक्ताः । यज्ञदानतपोरूपा याः क्रियास्ताः । सततम् । प्रवर्त्तन्ते ॥ २४ ॥

इसलिए वेदवादियों की शास्त्रोक्त यज्ञ, दान और तप की क्रियाएँ सदा 'ॐ' ऐसा उच्चारण कर के हुआ करती हैं ॥ २४ ॥

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपः क्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥ २५ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तत् श्रीकृष्णप्रीत्यर्थम् । इत्युदाहृत्य । फलम् । अनभिसंधाय । मोक्षकांक्षिभिर्जनैः । विविधाः । यज्ञतपःक्रियाः । दानक्रियाश्च । क्रियते ॥ २५ ॥

मोक्ष चाहने वाले पुरुषों के द्वारा विविध भाँति की यज्ञ, तप और दान की क्रियाएँ फल की आकांक्षा न रखकर की जाती है। वे 'तत्' शब्द से निर्देश करने योग्य हैं ॥ २५ ॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ २६ ॥

सदिति । हे पार्थ । सद्भावे सदेव सौम्येदमग्र आसीदित्यादिश्रुत्युक्तपरब्रह्मतदाद्यविनाशि-वस्तुनि । साधुभावे सत्पुरुषे च । सदित्येतच्छब्दरूपम् । प्रयुज्यते । तथा । प्रशस्ते मांगलिके । कर्मणि । सच्छब्दो युज्यते ॥ २६ ॥

अर्जुन ! सद्भाव और साधुभाव में 'सत्' इस नाम का प्रयोग किया जाता है। तथा शुभ कर्म के लिये भी सत् शब्द का उपयोग होता है ॥ २६ ॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ ॥

यज्ञ इति । यज्ञे । तपसि दाने च । ब्राह्मणादीनां या स्थितिः । सा च । सदेव । इति । उच्यते । तदर्थीयं यज्ञादिसंबंधि । यज्ञादिसंपादनाय कृतमित्यर्थः । कर्म च सत् । इत्येव अभिधीयते ॥ २७ ॥

यज्ञ, तप और दान में स्थिति 'सत्' इस नाम से कही जाती है और तदर्थ किये जानेवाले कर्म भी 'सत्' इस नाम से ही कहे जाते हैं ॥ २७ ॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इदानीमश्रद्धायां कृतं कर्म निन्दति । अश्रद्धयेति । हे पार्थ । अश्रद्धया श्रद्धां विना । यत् । हुतम् । दत्तम् । तपः तप्तम् । यच्चान्यत्कर्म । कृतम् । तत्सर्वम् । असत् । इति । उच्यते । तच्च इह लोके । नो फलदं न भवति । प्रेत्य मरणादनंतरं परलोके च फलं न भवति ॥२८॥

इति श्रीभगवद्गीताटीकायामन्वयार्थदीपिकायां सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अर्जुन ! अश्रद्धा से किया हुआ हवन, दिया हुआ (दान), तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया होता है, वह 'असत्' ऐसा कहलाता है। वह (कर्म) न तो मरने पर (फल देता है) और न इस लोक में ही ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथाष्टादशोऽध्यायः

मोक्षोपदेशयोगोऽत्राष्टादशेनैकधोदितः ।
संन्यासत्यागाश्रयादिलक्षणानां विवेचनैः ॥ १ ॥

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

संन्यासस्येति । हे महाबाहो । हे हृषीकेश हे केशिनिषूदन केशिनाशन श्रीकृष्ण । संन्यासस्य त्यागस्य च तत्त्वं यथार्थस्वरूपम् । पृथग्विवेकेन । अहम् । वेदितुं ज्ञातुम् । इच्छामि ॥ १ ॥

अर्जुन ने कहा—महाबाहो ! हृषीकेश ! केशिनिषूदन ! मैं संन्यास और त्याग के तत्त्व को पृथक् पृथक् जानना चाहता हूँ ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥

काम्यानामिति । हे अर्जुन कवयः केचित्पंडिताः । काम्यानां सकामानाम् । संन्यासं सर्वथा त्यागम् । संन्यासम् । विदुर्जानंति । विचक्षणा दीर्घदृष्टयः केचिद्विद्वांसः । सर्वाणि नित्यनैमित्तिकानि कर्माणि तेषां फलत्यागम् । त्यागम् । प्राहुः । न वस्तुतया कर्मत्यागं वदंति ॥ २ ॥

श्रीभगवान् ने कहा—कवि लोग काम्य कर्मों के त्याग को संन्यास समझते हैं और विचक्षण पुरुष सब कर्मों के फल त्याग को त्याग कहते हैं ॥ २ ॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

त्याज्यमिति । एके केचित् । मनीषिणः । दोषवद्धिंसाव्यभिचारादिदोषयुक्तम् । कर्म त्याज्यम् । इति । प्राहुः अपरे च केचित्तु । यज्ञदानतपोहिंसादिवर्जितयज्ञादिरूपं कर्म न त्याज्यम् । कर्त्तव्यमेवेति प्राहुः ॥ ३ ॥

कई बुद्धिमान् कहते हैं कि कर्म दोष की भाँति त्याज्य है और दूसरे लोग ऐसा कहते हैं कि यज्ञ, दान, तपरूप कर्म त्याज्य नहीं हैं ॥ ३ ॥

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ ४ ॥

निश्चयमिति । हे भरतसत्तम । तत्र पूर्वोक्ते । त्यागे । मे मम । निश्चयम् । त्वं शृणु हे पुरुषव्याघ्र त्यागो हि निश्चितम् । त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ ४ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भरतकुल में श्रेष्ठ! पुरुषसिंह अर्जुन! उस त्याग में अब तू मेरा निश्चय सुन। क्योंकि त्याग तीन प्रकार का कहा गया है ॥ ४ ॥

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

तदाह द्वाभ्याम्। यज्ञेति। यज्ञदानतपोरूपं यत्कर्म। तत्। कार्यं कर्त्तुं योग्यमेवास्ति। अपि तद्यज्ञादिकर्म। न त्याज्यम्। च हेतौ यस्माद्धेतोः। यज्ञः। दानम्। तपः। एतदादीनि सत्कर्माणीत्यर्थः। मनीषिणां विदुषां नृणां पावनान्येव संति ॥ ५ ॥

यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं; बल्कि वे तो करने योग्य ही हैं (क्योंकि) यज्ञ, दान और तप बुद्धिमानों को भी पवित्र करने वाले हैं ॥ ५ ॥

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

एतानीति। एतानि यज्ञादीन्यपि। कर्माणि तु। संगं तस्मिन्कर्तृत्वाभिनिवेशम्। फलानि स्वर्गपुत्रादीनि च। त्यक्त्वा। कर्त्तव्यानि भगवत्प्रसन्नतायै मुमुक्षुभिर्विधेयानि। हे पार्थ इत्येवम्। मे मम। निश्चितम्। मतं सिद्धांतः। उत्तमश्रेष्ठं भवति ॥ ६ ॥

इसलिये अर्जुन! ये कर्म भी (उपासना की भाँति ही) सङ्ग और फलों को छोड़कर करने योग्य हैं। ऐसा मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है ॥ ६ ॥

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

प्रागुक्तं त्यागत्रैविध्यमाह त्रिभिः। नियतस्येति। नियतस्यावश्यावश्यं कर्त्तव्यतयोक्तस्य मदाराधनरूपनित्यनैमित्तिकस्य। कर्मणस्तु। संन्यास्त्यागः। नोपपद्यते न घटते। मोहाद्विपरीतज्ञानात् तस्य कर्मणः। यः परित्यागः। सः तामसः। परिकीर्त्तितः ॥ ७ ॥

शास्त्र नियत कर्म का त्याग नहीं बन सकता। अतः उसका मोह से त्याग करना तामस (त्याग) कहलाता है ॥ ७ ॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥

दुःखमिति। दुःखं द्रव्यार्जननियमपालनाभ्यां स्वस्य दुःखकरमेव इति हेतोः। कायस्य यः क्लेशो दुःखं तस्माद्यद्भयात्तस्मात्। यच्छास्त्रविहितम्। कर्म। यः। त्यजेत्। स त्यागो राजसोऽस्तीति शेषः। सः पुरुषः। राजसम्। त्यागम्। कृत्वा। त्यागस्य फलं ज्ञाननिष्ठारूपम्। नैव। लभेत् ॥ ८ ॥

(यज्ञादि कर्म) दुःखरूप है, ऐसा जानकर जो कोई शरीर के क्लेश के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भय से कर्म का त्याग कर दे तो वह राजस त्याग करके त्याग के (यथार्थ) फल को कभी नहीं पाता ॥ ८ ॥

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥

कार्यमिति । हे अर्जुन । नियतमवश्यम् । कार्यं कर्त्तव्यतयोक्तम् । इति ज्ञात्वा । यत् । कर्म । संगं तस्मिन्नभिनिवेशम् । फलं च । त्यक्त्वैव । जनैः क्रियते । सः । त्यागः । सात्त्विकः । मतः ॥ ९ ॥

अर्जुन ! (वर्णाश्रमोचित कर्म) जो शास्त्रनियत कर्म करने ही चाहिये, ऐसा समझ कर आसक्ति और फल का त्याग करके किया जाता है, वह त्याग सात्त्विक माना गया है ॥ ९ ॥

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १० ॥

नेति । सत्त्वसमाविष्ट एवं सत्त्वगुणसंपन्नः । अतः । मेधावी ज्ञानसंपन्नः । अत एव छिन्नः संशयो यस्य सः । त्यागी कर्त्तृत्वममत्वे फलेच्छारहितो मुमुक्षूजनः । अकुशलं दुःखप्रदम् । कर्म । न द्वेष्टि । कुशलं कर्मणि । नानुषज्जते ॥ १० ॥

सत्त्वगुण से व्याप्त, मेधावी और संशयरहित त्यागी पुरुष न अकुशल कर्म से द्वेष करता है और न कुशल (कर्म) में राग करता है ॥ १० ॥

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥

नहीति देहभृता वर्णाश्रमिजनेन । अशेषतः । कर्माणि । त्यक्तुम् । हि यस्मात् । न शक्यं न शक्यानि । तस्मात् । यस्तु । कर्मफलत्यागी । सः । त्यागी इति अभिधीयते ॥ ११ ॥

क्योंकि देहधारी (प्राणी) समस्त कर्मों के त्याग में समर्थ नहीं है । इसलिए जो कर्मफल का त्यागी है, वह (यथार्थ) त्यागी है, ऐसा कहा जाता है ॥ ११ ॥

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥ १२ ॥

अनिष्टमिति । अनिष्टं यातनाप्रापकम् । इष्टं स्वर्गादिप्रापकम् । मिश्रं प्रियमिश्रं मध्यलोकप्रापकं च । एवंभूतं त्रिविधम् । कर्मणाम् । फलम् । अत्यागिनां कर्मफलसंगिनामेव । प्रेत्य मरणादनंतरम् । भवति । संन्यासिनां कर्मफलत्यागिनां तु । क्वचित्कुत्रचिदिह परत्र च । भवति ॥ १२ ॥

इष्ट, अनिष्ट और मिश्रित—तीन प्रकार का कर्मफल अत्यागियों को पीछे से मिलता है; परन्तु त्यागियों को कभी नहीं (मिलता) ॥ १२ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पञ्चैतानि महाबाहो करणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ १३ ॥

अथाभिमाननिवृत्तये कर्मणा हेतुपंचकमाह त्रिभिः । पंचेति । हे महाबाहो । सर्वकर्मणाम् । सिद्धये । कृतस्य कर्मणोऽतः समाप्तिर्यस्मिंस्तस्मिन् । सम्यक् ख्यायते ज्ञायते परब्रह्मानेनेति संख्यमेव सांख्यं तस्मिन् शास्त्रे । प्रोक्तानि । एतानि वक्ष्यमाणानि । पंच । कारणानि । मे मत्तः । निबोध त्वं विद्धि ॥ १३ ॥

महाबाहु अर्जुन ! सब कर्मों की सिद्धि के लिये सांख्यसिद्धान्त में बतलाये हुए ये पाँच कारण तू मुझसे समझ ॥ १३ ॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ १४ ॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥ १५ ॥

एतान्याह । अधिष्ठानमिति अधिष्ठानं शरीरम् । तथा । कर्ता जीवात्मा पृथक्विधम् । करणमंतर्बाह्येन्द्रियवृन्दम् । विविधा चेष्टा देहेन्द्रियनिर्वाहकदशविधवायोर्भिन्नव्यापाराश्च । अत्र कर्मकारणवृन्दे । दैवमंतर्याम्यहमेव । पंचमं करणं च ॥ १४ ॥

शरीरेति । नरो जीवात्मा शरीरवाङ्मनोभिः । न्याय्यं न्यायादनपेतम् । विपरीतं वा । यत् । कर्म । प्रारभते । तस्य कर्मणः । एते । पंच । हेतवः संति । वा वै निश्चितम् ॥ १५ ॥

अर्जुन ! शरीर, वाणी और मन के द्वारा जो भी न्याय (शास्त्रविहित) अथवा विपरीत (शास्त्रविरुद्ध) कर्म मनुष्य करता है, उसमें अधिष्ठान (शरीर), कर्ता (जीवात्मा), पृथक्-पृथक् प्रकार का करण (इन्द्रियाँ), विभिन्न प्रकार की पृथक्-पृथक् चेष्टाएँ और पाँचवाँ दैव (परमात्मा) भी—ये पाँच हो उसके हेतु होते हैं ॥१४-१५॥

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ १६ ॥

तत्र तत्र तस्मिन् सर्वकर्मणि । एवं सति । केवलमेकम् । आत्मानं जीवम् । कर्तारम् । तु यद्वा । आत्मानं परमात्मानं मामेकं कर्तारम् । यः । पश्यति । स पुमान् । अकृतबुद्धित्वात्सज्जनेभ्योऽशिक्षितबुद्धित्वात् न पश्यत्येतत्पंचकं न जानाति ॥ १६ ॥

वहाँ ऐसा होने पर भी फिर जो केवल आत्मा को ही कर्ता देखता है, वह दुष्टबुद्धि अकृतबुद्धि होने के कारण (यथार्थ) नहीं देख पाता है ॥ १६ ॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ १७ ॥

१३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निर्लेपत्वं वदन्नाह। यस्येति। यस्य मुमुक्षोः। अहंकृतो देहाभिमानेन कृतः। भावः स्वभावः। नास्ति यस्य च। बुद्धिः न लिप्यते तत्फले तन्ममत्वे च नाव्रियते। सः। इमानग्रे स्थितान्। लोकान्भीष्मदुर्योधनादीन् समरे हत्वाऽपि। न हंति। न निबध्यते तत्कर्मणो बंधनं नाप्नोति॥ १७॥

जिसका मैं कर्ता हूँ ऐसा भाव नहीं है (और) जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह इन लोगों को मारकर भी न तो मारता है और न बन्धन को ही प्राप्त होता है।१७।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः॥ १८॥

अथ कर्मनोदनां कर्मसंग्रहं चाह ज्ञानमिति। ज्ञानं कर्मकर्त्तव्यताप्रकारवेदनम्। ज्ञेयं करणीयकर्म च। परिज्ञातकर्मणो वेदिता चेति। त्रिविधा कर्मणो वेदिता चेति। त्रिविधा। कर्मनोदना विधिरूपा प्रेरणा भवति। करणं यज्ञसाधनानि। कर्म यज्ञादिकम्। कर्ता तद्विधायकश्च इत्येवं त्रिविधः। कर्मसंग्रहस्तत्कर्त्तव्यताप्रकारोऽस्ति॥ १८॥

ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता, तीन प्रकार की कर्मचोदना है। और करण, कर्म तथा कर्ता—यह तीन प्रकार का कर्म संग्रह है॥ १८॥

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि॥ १९॥

अथ ज्ञानादीनां त्रैविध्यमाह। ज्ञानमिति। गुणसंख्याने गुणगणनशास्त्रे गुणभेदतः सत्त्वादिगुणभेदैः। ज्ञानम्। कर्म च कर्त्ता चेति। त्रिधा। एव। प्रोच्यते। तानि ज्ञानादीन्यपि यथावत्। श्रृणु॥ १९॥

ज्ञान, कर्म और कर्ता गुण संख्यान में गुण भेद से तीन प्रकार के ही कहे गये हैं। उनको भी तू यथार्थरूप में (मुझ से) सुन॥ १९॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥ २०॥

सर्वेति। विभक्तेषु पृथग्भूतेषु। सर्वभूतेषु। येन ज्ञानेन। एकमात्मनां जातितयैकाकारम्। अव्ययमविनाशिनम्। अविभक्तं ब्राह्मणादिजातिविभागहीनं च। भावमात्मसमुदायरूपवस्तु। ईक्षते। तत्। ज्ञानम्। सात्त्विकम्। त्वं विद्धि॥ २०॥

जिस (ज्ञान) से सब विभक्त भूतों में एक अविभक्त अविनाशी भाव को देखता है, उस ज्ञान को तू सात्त्विक जान॥ २०॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥ २१॥

पृथक्त्वेनेति। सर्वेषु विप्रादिषु। भूतेषु। पृथक्पृथग्जात्यादितया स्थितान्। भावा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीवात्मनः। नानाआकृत्या नानाविधान्। पृथग्विधान् श्यामश्वेतादिभेदैर्भिन्नभिन्नप्रकारान् कर्तृत्वममत्वफलसर्गार्हान् च। एवं कर्मारंभकाले यत्। ज्ञानं वेत्ति। जीवात्मा येन ज्ञानेन जानातीत्यर्थः। तत्। ज्ञानम्। राजसम्। विद्धि॥ २१॥

परन्तु जो ज्ञान पृथक्-पृथक् आकार के कारण सब भूतों में विभिन्न प्रकार के पृथक् पृथक् भावों को जानता है, उस ज्ञान को तू राजस जान॥ २१॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥ २२॥

यदिति। एकस्मिन्कार्ये निकृष्टफले तामसदेवोपासनरूपे क्रियमाणे कर्मणि। कृत्स्नवत्समग्रवत्। सक्तम्। अहैतुकं स्वेप्सितफलेच्छाशून्यम्। अतत्त्वार्थवदसत्पदार्थाढ्यम्। अल्पमल्पफलं च। यज्ज्ञानम्। तत्तु। तामसम्। उदाहृतम्॥ २२॥

जो ज्ञान एक कार्य में पूर्ण फलवाले के समान आसक्त हो, तथा हेतु से रहित, मिथ्या वस्तु को विषय करने वाला और अल्प हो वह (ज्ञान) तामस कहलाता है॥ २२॥

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥ २३॥

नियतमिति। नियतं स्वस्य कर्त्तव्यत्वेन प्राप्तम्। संगेन फलाद्यासक्त्या रहितम्। अफलप्रेप्सुना फलासीच्छाहीनेन मुमुक्षुणा। अरागद्वेषतो रागद्वेषरहिततया। यत्। कर्म। कृतम्। तत्। सात्त्विकम्। उच्यते॥ २३॥

जो शास्त्रनियत (कर्म) कर्तापन के सम्बन्ध से रहित, बिना राग-द्वेष के और फल न चाहने वाले पुरुष के द्वारा किया जाता है, वह सात्त्विक कहलाता है॥२३॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥ २४॥

यदिति। यत्तु। कर्मयज्ञादिकम्। कामेप्सुना फलेच्छावता। साहंकारेण च पुंसा। बहुल आयासो यस्मिन्कर्मणि यथा तथा। पुनर्दुराग्रहेण। क्रियते। तत्। राजसम्। उदाहृतम्॥२४॥

परन्तु जो कर्म फलाकांक्षी पुरुष के द्वारा अहङ्कार के साथ और बहुत प्रयास से किया जाता है, वह राजस कहलाता है॥ २४॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥ २५॥

अनुबंधमिति। अनुबंधभाविशुभाशुभफलम्। क्षयमर्थविनाशम्। हिंसां भूतपीडाम्। पौरुषं स्वसामर्थ्यं च। अनवेक्ष्य। मोहात्। यत्। कर्म। जनैरारभ्यते। तत्। तामसम्। उच्यते॥ २५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुबन्ध, क्षय, हिंसा और पौरुष को न देखकर जो कर्म मोह से आरम्भ किया जाता है, वह तामस कहलाता है ॥ २५ ॥

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥

मुक्तसंग इति । मुक्तः संगः फलासक्तिर्येन सः । अनहंवादी गर्वसंयुक्तवचनरहितः । धृतिर्धैर्यं च उत्साहश्च ताभ्यां समन्वितः । सिद्धिश्च असिद्धिश्च तयोः । निर्विकारश्च । यः कर्ताः । सः । सात्विकः उच्यते ॥ २६ ॥

फलासक्ति रहित, अनहंवादी, धृति और उत्साह से युक्त तथा सिद्धि और असिद्धि में निर्विकार रहने वाला कर्ता सात्त्विक कहलाता है ॥ २६ ॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

रागीति । रागी कर्मणि प्रीतिमान् । कर्मफलप्रेप्सुः कर्मफलाभिलाषी । लुब्धः । हिंसायाम् आत्मा मनो यस्य सः । अशुचिः । हर्षशोकान्वितः । यः कर्त्ता । सः । राजसः । परिकीर्त्तितः ॥ २७ ॥

रागी, कर्मफल चाहने वाला, लोभी, हिंसात्मक, अपवित्र और हर्ष-शोक से युक्त कर्ता राजस कहलाता है ॥ २७ ॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥

अयुक्त इति । अयुक्तोऽसावधानः । प्राकृतो विवेकशून्यः । स्तब्धो गुर्वादिष्वप्यनम्रः । शठोऽभिचारादिकर्मकृत् । नैष्कृतिको जनवंचकः । अलसो निरुद्यमः । विषादी शोकाकुलः । दीर्घसूत्री सत्कार्यकरणेऽतिविलंबकृच्च । यः कर्त्ता । सः । तामस उच्यते ॥ २८ ॥

अयुक्त, विचाररहित, स्तब्ध, शठ, वञ्चक, आलसी, विषादी और दीर्घसूत्री कर्ता तामस कहलाता है ॥ २८ ॥

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥ २९ ॥

अथ प्रतिज्ञापूर्वं बुद्धिधृत्योर्गुणतस्त्रैविध्यमाह सप्तभिः । बुद्धेरिति । हे धनंजय । बुद्धेः । धृतेश्च । पृथक्त्वेन । मया प्रोच्यमानम् । गुणतः एव । त्रिविधम् । भेदम् । अशेषेण । त्वं शृणु ॥ २९ ॥

धनंजय ! बुद्धि और धृति के भेद भी जो गुण भेद से तीन प्रकार के हैं, मेरे द्वारा पृथक्-पृथक् कहे हुए तू सुन ॥ २९ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३० ॥

प्रवृत्तिमिति । हे पार्थ । प्रवृत्तिं त्रिवर्गप्रधानप्रवृत्तिधर्मम् । निवृत्तिं मोक्षप्रधाननिवृत्तिधर्मं च । कार्यं कर्तुं योग्यं च अकार्यं कर्तुमयोग्यं च ते । भयं शास्त्रविरुद्धाचरणं च अभयं शास्त्रोक्ताचरणं च ते । बंधम् । मोक्षं च । या । बुद्धिः । वेत्ति । सा । सात्त्विकी ज्ञेया ॥ ३० ॥

प्रवृत्ति और निवृत्ति, कार्य और अकार्य, भय और अभय तथा बन्ध और मोक्ष इन सब को जो बुद्धि जानती है, पार्थ ! वह बुद्धि सात्त्विकी है ॥ ३० ॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥

ययेति । यया बुद्ध्या । धर्मं पूर्वोक्तद्विविधम् । अधर्मं च । कार्यम् । अकार्यं च । अयथावदेव प्रजानाति जनो यथावन्नैव वेत्ति । हे पार्थ सा । बुद्धिः । राजसी ज्ञेया ॥ ३१ ॥

जिस बुद्धि से मनुष्य धर्म और अधर्म को तथा कार्य और अकार्य को यथार्थ नहीं जानता है, पार्थ ! वह बुद्धि राजसी है ॥ ३१ ॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ ३२ ॥

अधर्ममिति । हे पार्थ या बुद्धिः । तमसा तमोगुणेनाऽऽवृता सती । अधर्मम् । इति । मन्यते । सर्वे येऽर्थास्तांश्च । विपरीतान्मन्यते । सा । बुद्धिः । तामसी ज्ञेया ॥३२॥

अन्धकार से ढकी हुई जो बुद्धि अधर्म को धर्म, ऐसे मानती है तथा सब बातों को विपरीत मानती है, पार्थ ! वह बुद्धि तामसी है ॥ ३२ ॥

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

धृत्येति । हे पार्थ । योगेन मद्भक्तियोगेन मत्साधुयोगेन वा । अव्यभिचारिण्या मदितरविषयमात्रमधारयंत्या । यया । धृत्या । जनः । मनश्च प्राणांश्च इन्द्रियाणि च तेषां याः क्रियास्ताः । धारयते मद्भक्तौ वशीकरोति । सा । धृतिः । सात्त्विकी ज्ञेया ॥ ३३ ॥

जिस अव्यभिचारिणी धृति से पुरुष योग के उद्देश्य से मन, प्राण तथा इन्द्रियों की क्रियाओं को धारण करता है, पार्थ ! वह धृति सात्त्विकी है ॥३३॥

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥

ययेति । हे अर्जुन । यया । धृत्या तु । फलाकाङ्क्षी नरः । धर्मार्थकामान् । प्रसंगेन प्रकृष्टासक्त्या । धारयते । हे पार्थ सा । धृतिः राजसी ज्ञेया ॥ ३४ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्जुन ! फलाकांक्षी पुरुष जिस धृति से अत्यन्त आसक्तिपूर्वक धर्म, काम और अर्थ को धारण करता है, पार्थ ! वह धृति राजसी है ॥ ३४ ॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ ३५ ॥

ययेति । हे पार्थ । दुष्टा मेधा बुद्धिर्यस्य तथाभूतो जनः । यया धृत्या । स्वप्नं निद्राम् । भयं त्रासजनकं कर्म । शोकम् । विषादं खेदम् । मदमौद्धत्यं च । नैव । मुंचति । सा धृतिः । तामसी ज्ञेया ॥ ३५ ॥

जिस धृति से दुर्बुद्धि मनुष्य स्वप्न, भय, शोक, विषाद और मद को नहीं त्यागता । पार्थ ! वह धृति तामसी है ॥ ३५ ॥

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥ ३६ ॥

अथ गुणैस्त्रिविधं सुखं ब्रूते चतुर्भिः । सुखमिति । हे भरतर्षभ । इदानीमद्य तु । मे मयोच्यमानम् । त्रिविधम् । सुखम् । त्वं शृणु । यत्र सुखे । अभ्यासाच्छ्रवणमननाद्यभ्यासात् । रमते यः स्थितिं प्राप्नोति । सः । दुःखस्य जन्ममरणादिक्लेशस्यांतं पारम् । निगच्छति प्राप्नोति । फलसहितत्रिविधसुखश्रवणादिनोत्पन्नया सात्विकसुखासक्त्यादुःखांतं यातीतिभावः ॥ ३६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! अब तीन प्रकार का सुख भी तू मुझसे सुन, जिसमें मनुष्य अभ्यास से रमता है और दुःख के अन्त को प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥

यदिति । यत्सुखम् । अग्रे फलकालात्पूर्वम् । विषमिंद्रियमनोवशीकरणात्मकदुःखप्रदमिवाभाति । परिणामे मत्प्रसन्नतारूपफले जाते । अमृतोपमं विभाति । आत्मनो निश्चयो यस्या या बुद्धिस्तस्याः प्रसादो नैर्मल्यं तस्माज्जायते इति तथोक्तम् । तत्प्रसिद्धम् । तत्सुखम् । सात्विकम् । प्रोक्तम् ॥ ३७ ॥

वह जो पहले तो विष के समान और परिणाम में अमृततुल्य होता है और आत्मबुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न होता है वह सुख सात्त्विक कहा गया है ॥३७॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

विषयेति । विषयाश्च इंद्रियाणि च तेषां संयोगात्संबंधात् । यत्सुखम् । अग्रे परिणामात्प्राग्भोगकाले । अमृतोपमं भवति । परिणामे फलकाले । विषं पापात्मविषयभोगस्य नरकदुःखहेतुत्वाद्गरलमिव भवति । तत्प्रसिद्धम् । तत्सुखम् । राजसम् । स्मृतम् ॥ ३८ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन्द्रियों और विषयों के संयोग से उत्पन्न वह सुख जो कि पहले अमृततुल्य और परिणाम में विष के सदृश होता है, वह राजस कहलाता है ॥ ३८ ॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

यदिति । अग्रेऽनुभवकाले । अनुबंधे पश्चात्फले च । आत्मनो जीवस्य । मोहनं विपरीतज्ञानजनकम् । निद्राऽऽलस्यप्रमादेभ्य उत्थमुत्पन्नम् । यत् । सुखम् । तत् । तामसम् । उदाहृतम् ॥ ३९ ॥

जो सुख पहले एवं परिणाम में भी आत्मा को मोहित करने वाला है तथा निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न होता है, वह तामस कहा गया है ॥३९॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥ ४० ॥

नेति । पृथिव्यां पातालादिभूम्यंतलोकस्थमनुष्यादिषु । दिवि ब्रह्मलोकांतस्वर्गे । स्थितेषु देवेषु ब्रह्मादिसुरेषु च । एभिः सत्त्वादिभिः प्रकृतिजैः । त्रिभिः । गुणैः । मुक्तं रहितम् । यत् । सत्त्वं जीववृंदम् । स्याद्भवेत्तथाभूतम् । तत् । न पुनर्नैवास्ति । द्वितीयवा-शब्दो भगवदेकांतिकभक्तास्त्वेभिर्गुणैर्विमुक्ताः संतीति सूचयति ॥ ४० ॥

पृथिवी के (मनुष्यों में) या द्युलोक के भीतर देवताओं में ऐसा कोई प्राणी नहीं है जो प्रकृति से उत्पन्न इन तीनों गुणों से छूटा हुआ हो ॥ ४० ॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥

ब्राह्मणेति । हे परंतप ब्राह्मणक्षत्रियविशाम् । शूद्राणां च । कर्माणि । स्वस्य यो भावो ब्राह्मणादिजन्महेतुभूतप्राक्तनकर्मजसंस्कारस्तस्मात्प्रभवैः प्रादुर्भूतैः । गुणैः सत्त्वा-दिभिः । प्रविभक्तानि वेदेषु मयैव विभज्योक्तानि ॥ ४१ ॥

अर्जुन ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्म (उनके अपने-अपने) स्वभाव से उत्पन्न हुए गुणों से पृथक्-पृथक् विभाग किये हुए हैं ॥ ४१ ॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ ४२ ॥

अथ ब्राह्मणादीनां तान्याह त्रिभिः । शम इति । शमः । दमः । तपः । शौचम् । क्षांतिः । आर्जवं निष्कपटत्वम् । ज्ञानं शास्त्रजन्यम् । विज्ञानं साक्षादनुभवः । आस्तिक्यं च । एतत् । स्वभावजमेव । ब्रह्मकर्म ब्राह्मणस्य कर्म भवति ॥ ४२ ॥

शम, दम, तप, शौच, क्षमा, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता (ये सब) ब्राह्मण के स्वभावज कर्म हैं ॥ ४२ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥

दानमौदार्य्यम् । शौर्यमिति । शौर्यम् । तेजः परैरधृष्यत्वम् । धृतिर्धैर्यम् । दाक्ष्यं क्रियानैपुण्यम् । युद्धेऽपि । अपलायनं स्थैर्यम् । ईश्वरे मयि भावो भक्तिश्च जननियंतृत्वं वा एतत् । क्षात्रे क्षत्रजातिसंबंधि । स्वभावजम् । कर्मास्ति ॥ ४३ ॥

शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्ध से न भागना, दान और ईश्वरभाव (ये सब) क्षत्रिय के स्वभावज कर्म हैं ॥ ४३ ॥

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥

कृषीति । कृषिश्च गोरक्ष्यं पशुपालनं च वाणिज्यं वैश्यानां समाहारस्तथोक्तम् । स्वभावजम् । वैश्यस्य कर्मास्ति शूद्रस्यापि । परिचर्यात्मकं त्रैवर्णिकसेवारूपम् । स्वभावजम् । कर्मास्ति ।४४।

कृषि (खेती), गोरक्षा और व्यापार—ये वैश्य के स्वभावज कर्म हैं सेवारूप कर्म शूद्र का भी स्वभावज है ॥ ४४ ॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥ ४५ ॥

स्व इति । स्वे स्वे उक्तविधे । कर्मणि । अभिरतः प्रीतियुक्तः । नरः । संसिद्धिम् । लभते । स्वकर्मनिरतो जनः । यथा सिद्धिम् । विंदति । लभते । तत् प्रकारम् । शृणु ॥४५॥

अपने-अपने कर्म में लगा हुआ मनुष्य संसिद्धि को पाता है । किन्तु अपने कर्म में लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकार सिद्धि को पाता है वह तू मुझसे सुन ॥४५॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ ४६ ॥

यत इति । यतः श्रीहरेर्मत्तः । भूतानाम् । प्रवृत्तिः प्रवर्त्तनम् । येन च मया । सर्वम् । इदं बद्धमुक्तचेतनाचेतनवृंदम् । ततमंतर्यामितया व्याप्तम् । तं माम् । मानवः । स्वकर्मणा स्वकीयोक्तविधधर्मैः । अभ्यर्च्याराध्य । सिद्धिम् । विंदति प्राप्नोति ॥ ४६ ॥

जिससे प्राणियों की प्रवृत्ति हुई है, और जिससे यह सब (जगत्) व्याप्त है, उसको अपने कर्मों से पूजकर मनुष्य सिद्धि को पाता है ॥ ४६ ॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४७ ॥

यस्मादेवं तस्मात्कर्मयोगः कार्य इत्याह । श्रेयानिति । स्वनुष्ठितात्सुखेन कृतात् । परस्य यो धर्मस्तस्मात् विगुणो गुणरहितः । स्वधर्मः । श्रेयान्प्रशस्यतरः । अतः । स्वभावनियत-स्वप्रकृत्यनुकूलम् । कर्म । कुर्वंजनः किल्बिषं दोषम् । नाप्नोति ॥ ४७ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपना धर्म विगुण (होने पर भी) भलीभाँति अनुष्ठान किये हुए पर-धर्म से श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वभावनियत कर्म करता हुआ मनुष्य पाप को नहीं प्राप्त होता ॥ ४७ ॥

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ ४८ ॥

सहजमिति । हे कौंतेय । सह वर्णाश्रमोत्पत्त्या साकं जायत इति सहजं तत् । कर्म । सदोषं सदुःखमपि । जनो न त्यजेत् । यस्मात् । सर्वारंभाः क्रियामात्रप्रारम्भाः । दोषेण दुःखेन । धूमेन । अग्निः । इव । आवृताः संति ॥ ४८ ॥

अर्जुन ! स्वाभाविक कर्म सदोष (हो तो) भी (उसका) त्याग नहीं करना चाहिये । क्योंकि धूएँ से अग्नि की भाँति सभी कर्म दोष से आवृत हैं ॥४८॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ ४९ ॥

निष्कामकर्मयोगस्य फलमाह । असक्तेति । सर्वत्र मायिकवस्तुषु । आसक्ता प्रीतिवर्जिता बुद्धिर्यस्य सः अतः विगता स्पृहा स्वर्गाद्यभिलाषो यस्य सः । अतः जितात्मा वशीकृतमना नरः संन्यासेन कर्मफलत्यागेन । परमां श्रेष्ठाम् । नैष्कर्म्यस्य ज्ञानयोगस्य सिद्धिम् । अधिगच्छति ।४९

सर्वत्र असक्तबुद्धि, जितात्मा और विगतस्पृह पुरुष संन्यास से युक्त होकर परम नैष्कर्म्य-सिद्धि को प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥

सिद्धिमिति । हे कौंतेय । सिद्धिम् । प्राप्तो जनः । यथा येन प्रकारेण । ब्रह्म ब्रह्मभावम् । आप्नोति । तथोच्यमानमुपायम् । समासेन संक्षेपतः । मे मदुक्तितः । निबोध त्वं जानीहि । ज्ञानस्य । या परा । उत्कृष्टा निष्ठा स्थितिः सैव ब्रह्मभाव उक्त इत्यर्थः ।।५०॥

(उस) सिद्धि को प्राप्त हुआ पुरुष जिस प्रकार ब्रह्म को प्राप्त होता है, जो ज्ञान की परा निष्ठा है, कुन्तीपुत्र ! वह प्रकार तू संक्षेप में मुझ से समझ ॥५०॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ ५१ ॥

ब्रह्मप्राप्त्युपायमाह त्रिभिः । बुद्ध्येति । विशुद्धया बुद्ध्या युक्तः धृत्या धैर्येण आत्मानं मनः नियम्य च शब्दादीन् । विषयान् । त्यक्त्वा रागद्वेषौ च व्युदस्य परिहाय ॥ ५१ ॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विविक्तेति । विविक्तं चित्तविक्षेपकृज्जनरहितस्थानं सेवितुं शीलं यस्य सः । लब्धाशी अत्याहारापवित्राहाराभ्यां रहितः । यतानि वशीकृतानि वाक्कायमानसानि येन सः । अतः । नित्यम् । ध्यानयोगपरः वैराग्यं च । समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥

अहंकार बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥

अहंकारमिति । अहंकारम् । बलं दुराग्रहम् । दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहमघटितवस्तुसंग्रहं च । विमुच्य त्यक्त्वा निर्ममः शांतः । विशुद्धबुद्ध्यादिभिरेतैर्लक्षणैः संपन्नो मद्भक्त इत्यर्थः । ब्रह्मभूयाय कल्पते ब्रह्मरूपो भवति ॥ ५३ ॥

विशुद्ध बुद्धि से युक्त हो, घृति से मन को वश में करके, शब्दादि विषयों को त्यागकर, रागद्वेष को नष्ट करके, एकान्त सेवी, अल्पाहारी, तन-मन-वचन को वश में करनेवाला होकर, नित्य ध्यानयोगपरायण, वैराग्य का भलीभाँति आश्रय किये हुए, अहङ्कार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह को छोड़कर और ममता से रहित होकर, शान्त पुरुष ब्रह्मभाव का पात्र होता है ॥ ५१–५३ ॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥

तदनंतरं ममैकांतिकीं भक्तिं प्राप्नोतीत्याह ब्रह्मभूत इति ब्रह्मभूतोऽक्षरसाधर्म्यंप्राप्तः । अतः । प्रसन्नात्मा न शोचति । न कांक्षति च मायिकवस्तुमात्रमिति शेषः सर्वेषु भूतेषु । समः स्वस्योपमया सुखदुःखे जानन्नित्यर्थः । तथाभूतो योगी परामेकांतिकीम् । मद्भक्तिं लभते ॥५४॥

ब्रह्मभूत प्रसन्नात्म पुरुष न शोक करता है और न आकांक्षा करता है । सब भूतों में सम हुआ वह मेरी पराभक्ति को प्राप्त होता है ॥ ५४ ॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ ५५ ॥

इदृग्भक्त्या साक्षान्मदनुभवं स करोतीत्याह । यावानिति । यावान्स्वरूपस्वभावादिभिर्यादृशः । यः सर्वनियंता पुरुषोत्तमोऽहमस्मि तं माम् । भक्त्या मद्भक्तः । तत्त्वतो याथार्थ्येन । अभिजानाति । ततः । एवं तत्त्वतः माम् । ज्ञात्वा तदनंतरम् । मां विशते लक्ष्मीवन्महिमानमनुभूय मां सेवते इत्यर्थः ॥ ५५ ॥

भक्ति के द्वारा वह मुझको, मैं जितना और जो हूँ, तत्त्व से जान लेता है । तब मुझको तत्त्व से जानकर उसके बाद वह (मुझ में ही) प्रवेश कर जाता है ॥५५॥

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ ५६ ॥

सर्वेति । किंच । सर्वाणि वर्णाश्रमोचितानि यानि कर्माणि तान्यपि । कुर्वाणः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सदा । अहं व्यपाश्रयः शरणं यस्य स मद्भक्तः मत्प्रसादात् शाश्वतं सनातनम् । अव्यय-मक्षराख्यं स्थानम् । अवाप्नोति ॥ ५६ ॥

मेरा आश्रय ग्रहण करके पुरुष सब (काम्य) कर्मों को सदा करता हुआ भी मेरे प्रसाद से शाश्वत और अव्यय पद को पा जाता है ॥ ५६ ॥

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥

चेतसेति । यस्मादेव तस्मात् चेतसा मत्स्वरूपज्ञानेन । सर्वकर्माणि मयि । संन्यस्य निष्कामभावेन समर्प्य । अहमेव परः प्राप्यो यस्य त्वम् । बुद्धियोगम् । उपाश्रित्य । सततम् । मयि चित्त यस्यैवंभूतः ॥ ५७ ॥

चित्त से समस्त कर्मों को मुझ में निक्षेप करके मेरे परायण हुआ तू बुद्धि-योग का आश्रय लेकर निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो ॥ ५७ ॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥ ५८ ॥

मदिति । मच्चित्तस्त्वम् । मत्प्रसादात् । सर्वदुर्गाणि सर्वदुःखानि । तरिष्यसि । अथ । चेद्यदि त्वम् । अहंकारादभिमानात् । मद्वाक्यं न श्रोष्यसि । तर्हि । विनंक्ष्यसि चतुर्वर्गाद्भ्रष्टो भविष्यसि ॥ ५८ ॥

मुझमें चित्तवाला हुआ तू मेरे प्रसाद से समस्त कठिनाइयों से तर जायगा। और यदि अहङ्कार से तू न सुनेगा तो विनष्ट हो जायगा ॥ ५८ ॥

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥

अहंकारम् । आश्रित्य । न योत्स्ये युद्धं नाहं करिष्ये इति । यत् त्वं मन्यसे । एषः । ते तव व्यवसायो निश्चयः । मिथ्या । कुतः ? प्रकृतिः क्षात्रस्वभावः । त्वाम् । नियोक्ष्यति युद्धे योजयिष्यति ॥ ५९ ॥

जो अहङ्कार का आश्रय लेकर तू ऐसा मानता है कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा ।' तो यह तेरा निश्चय मिथ्या है। (तेरी) प्रकृति तुझे (युद्ध में) नियुक्त कर देगी ॥५९॥

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ ६० ॥

स्वभावजेनेति । हे कौंतेय । स्वभावजेन । स्वेन स्वकीयेन । कर्मणा । निबद्धस्त्वम् । मोहाद्विपरितज्ञानात् । यत्कर्म । कर्त्तुम् । नेच्छसि । तत्कर्मापि अवशः शत्रुकृततिरस्कार-मसहमानः सन् । करिष्यसि ॥ ६० ॥

कुन्तीपुत्र अर्जुन ! अपने स्वभावज कर्म से बँधा हुआ तू यदि मोह से युद्ध करना नहीं चाहेगा तो भी विवश हुआ उसे करेगा ॥ ६० ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥

अथेश्वरस्य स्वस्य स्वतंत्रत्वं जीवात्मनां परतंत्रत्वं चाह। ईश्वर इति। हे अर्जुन। ईश्वरः सर्वांतर्यामी। यत्र यंत्रसदृशे देहे रूढानि स्थितानि। सर्वभूतानि। मायया प्रकृत्या। भ्रामयन्सन्। सर्वभूतानाम्। हृद्देशे हृदयस्थाने। तिष्ठति। नियंतृतया स्थितोऽस्ति ॥ ६१॥

अर्जुन! ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय-देश में स्थित है और यन्त्रारूढ़ सभी प्राणियों को (अपनी) माया से घुमा रहा है ॥ ६१ ॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ ६२ ॥

तमिति। हे भारत। तम्। तमीश्वरमेव सर्वभावेन गुर्विष्टदेवमित्रपितृमात्रादिभावेन शरणम्। गच्छ। तत्प्रसादात्तस्यानुग्रहात्। परां श्रेष्ठाम्। शांतिम्। शाश्वतं स्थानं मद्धाम च। प्राप्स्यसि ॥ ६२ ॥

भारत! सर्वभाव से तू उस (ईश्वर) की ही शरण में जा। उसके प्रसाद से तू परमशान्ति को और शाश्वत स्थान को प्राप्त होगा ॥ ६२ ॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

एतज्ज्ञानविस्तरमुपसंहरन्नाह। इतीति। हे अर्जुन। इत्युक्तप्रकारेण। ते तुभ्यम्। गुह्यात्। गुह्यतरम्। एतत्। ज्ञानम्। मया। आख्यातम्। अशेषेण समग्रतया। विमृश्य। अधुना यथा। इच्छसि। तथा। कुरु। स्वाधिकारानुसारेण विधेहीत्यर्थः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार गुह्य से गुह्यतर ज्ञान मेरे द्वारा तेरे प्रति कहा गया। इसको पूर्णरूप से विचार कर तू जैसा चाहता है, वैसा कर ॥ ६३ ॥

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ६४ ॥

ततोऽपि गुह्यतमं वदन्नाह त्रिभिः सर्वमिति। सर्वेषु कर्मयोगसामान्यभक्तियोगेषु यद्गुह्यतमं गोप्यतमं तत्। परमं श्रेष्ठतमम्। मे मम। वचः। भूयः। पुनर्वक्ष्यमाणम्। त्वं शृणु। यतस्त्वम्। दृढमतिर्मयि निश्चलबुद्धिः। अतः। मे मम। इष्टः प्रियः। असि। ततो हेतोः। ते तव हितं परमं हितकरवाक्यं वक्ष्यामि ॥ ६४ ॥

तू मेरा समस्त गुह्यों में गुह्यतम श्रेष्ठ वचन फिर सुन, तू मेरा अत्यन्त प्रिय है, इसलिए तेरे हित की बात मैं कहूँगा ॥ ६४ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥

मन्मना इति। मयि प्रत्यक्षपरमात्मनि मनो यस्य सः मद्भक्तश्च। त्वं भव। मां

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यष्टुं पूजयितुं शीलं यस्य तथोक्तो भव माम्। नमस्कुरु मां पुरुषोत्तममेव एष्यसि। मच्छरणादिनवविधमक्त्या प्राप्स्यसि। इति। ते तुभ्यम्। सत्यं यथाऽहं प्रतिजाने। यस्मात्त्वम्। मे मम। प्रियो वल्लभः। असि॥ ६५॥

मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त हो, मेरी पूजा करनेवाला हो और मुझको ही नमस्कार कर (फिर) तू मुझको ही प्राप्त होगा। यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ (क्योंकि) तू मेरा प्रिय है॥ ६५॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ ६६॥

सर्वधर्मानिति। किंच। सर्वदेहाभिमानाद्धेतोः शास्त्रयोनेर्मत्सकाशादुत्पन्नसर्वशास्त्रेभ्यो वैपरीत्येन ज्ञाताः स्वमतिकल्पिताश्च ये धर्मास्तान्। परित्यज्य। मदभिप्रायतो वैपरीत्यं त्यक्त्वा मदुक्तप्रकारेषु कर्मयोगज्ञानयोगभक्तियोगेषु यथाधिकारं स्थित्वेत्यर्थः। माम्। एकम्। शरणं व्रज प्राप्नुहि। अन्यदेवोपासनत्यागेन ममैकाश्रयं कुर्वीतेतिभावः अहम्। सर्वपापेभ्यो मदेकांतिकभक्तिविरोधिसकलाघेभ्यः। त्वाम्। मोक्षयिष्यामि। मा शुचः। शोकं माऽकार्षीः॥ ६६॥

सब धर्मों का परित्याग करके मुझ एक की शरण में आ जा। मैं तुझे सारे पापों से छुड़ा दूँगा। शोक मत कर॥ ६६॥

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥ ६७॥

अथैतज्ज्ञानस्याधिकारिणोनधिकारिणश्च वदन्नाह। इदमिति। इदं मदुक्तैतच्छास्त्रम्। अतपस्कायावशीकृतेंद्रियाय कदाचन न वाच्यं न वक्तुमर्हं न भवति अभक्ताय मयि भक्तिरहिताय च न। अशुश्रूषवे सेवामकुर्वाणाय श्रवणेच्छारहिताय वा याम्। अभ्यसूयति मन्मूर्त्तिगुणचरित्रादिषु दोषमारोपयति तस्मै च। न॥ ६७॥

यह (शास्त्र) तुझे न कभी तपहीन, भक्तिहीन, सुनना न चाहनेवाले के प्रति और न उसके प्रति कहना चाहिये जो मेरी निन्दा करता है॥ ६७॥

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥ ६८॥

य इति। यः। इदं परमम्। गुह्यम्। मद्भक्तेषु। अभिधास्यति। तेभ्यो दास्यतीत्यर्थः। सः। मयि। पराम्। भक्तिम्। कृत्वा। माम्। एव। एष्यति प्राप्स्यति। असंशयोऽत्र संदेहो नास्ति॥ ६८॥

जो इस परम गुह्य (शास्त्र को) मेरे भक्तों में कहेगा, वह मुझमें परा भक्ति करके निस्सन्देह मुझको ही प्राप्त होगा॥ ६८॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥ ६९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न चेति । तस्मान्मदाश्रितेभ्य एतन्मद्भक्तशास्त्रवक्तुर्मद्भक्तात् । मनुष्येषु । कश्चिदन्यो जनः । मे मम । प्रियकृत्तमोऽतिशयप्रसन्नकर्त्ता न चास्ति । भुवि । तस्मात् तथाविधमद्भक्तात् । अन्यः । मे मम प्रियतरोऽतिशयवल्लभः । न च भविता नैव भविष्यति ॥ ६९ ॥

मनुष्यों में उसके सिवा दूसरा मेरा प्रिय कार्य करने वाला कोई नहीं हुआ है और उससे बढ़कर मेरा प्रियतर इस पृथ्वी पर कोई दूसरा होगा भी नहीं ॥६९॥

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ ७० ॥

अध्येष्यत इति । आवयोः । इमम् । धर्म्यं धर्मादनपेतम् । संवादम् । यः । अध्येष्यत्येव । तेन मद्भक्तेन । अहम् । ज्ञानयज्ञेन । इष्टः पूजितः । स्यां भवेयम् । इति । मे मतिर्मम निश्चयोऽस्ति ॥ ७० ॥

जो हम दोनों के इस धर्ममय संवाद का अध्ययनमात्र भी करेगा, उससे मैं ज्ञानयज्ञ के द्वारा पूजित होऊँगा; ऐसी मेरी मति है ॥ ७० ॥

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥ ७१ ॥

श्रद्धावानिति । यः । नरः । श्रद्धावान् श्रीकृष्णेन यदुक्तं तत्संवादं तदेव कर्तव्यं चेति विश्वासपूर्वकत्वरावान् । अनसूयोऽप्यस्मिन्महागुणे शास्त्रे दोषारोपणरहितश्च सन् । शृणुयादेतदाकर्णयेत् । सोऽपि नरः । मुक्तः कष्टाद्विमुक्तः सन् । पुण्यकर्मणां जनानाम् । शुभान् । लोकान् । प्राप्नुयात् ॥ ७१ ॥

श्रद्धावान् और असूयारहित जो भी मनुष्य (इसको) सुनता है, वह भी मुक्त होकर पुण्यकर्मा पुरुषों के शुभ लोकों को प्राप्त हो जाता है ॥ ७१ ॥

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥ ७२ ॥

अथार्जुनं पृच्छन्नुवाच । कच्चिदिति । कच्चिदिति प्रश्ने । हे पार्थ । त्वया एकाग्रेण । चेतसा । एतन्मयोदितं ज्ञानम् । श्रुतम् । हे धनंजय । ते तव । अज्ञानेन भूभारहरणायेहाविर्भूतस्य मम हार्दानभिज्ञत्वेन यः संमोहोऽहं न योत्स्यामीति मूढत्वं स च प्रणष्टः कच्चित् नाशं प्राप्तः किम् ॥ ७२ ॥

पार्थ ! क्या यह (उपदेश) तेरे द्वारा एकाग्रचित्त से सुना गया है ? धनंजय ! क्या इससे तेरा अज्ञानजनित सम्मोह नष्ट हो गया है ? ॥ ७२ ॥

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एवं भगवता पृष्टोऽर्जुनोऽब्रवीत् । नष्ट इति । हे अच्युत । त्वत्प्रसादात्त्वत्कृपानुग्रहात् । मम । मोहो नष्टो विपरीतज्ञानं प्रणष्टम् । मया । स्मृतिर्लब्धा यथार्थज्ञानं प्राप्तम् । अतः गतसंदेहः प्रणष्टसमग्रसंशयः सन् स्थितोऽस्मि युद्धायोद्यतोऽस्मि । तव । वचनम् । करिष्ये । अहं पालयिष्ये ॥ ७३ ॥

अर्जुन ने कहा—अच्युत ! तुम्हारे प्रसाद से (मेरा) मोह नष्ट हो गया है और मैंने स्मृति भी पा ली है । अब मैं सन्देह रहित होकर स्थित हूँ । (अब) तुम्हारे वचन का पालन करूँगा ॥ ७३ ॥

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥

इतीति । हे धृतराष्ट्र । महात्मनो भूभारं संहृत्येह धर्मं स्थापयतः । वासुदेवस्य श्रीकृष्णस्य । तथाभूतस्य पार्थस्य च । अद्भुतमत्याश्चर्यजनकम् । रोमहर्षणं रोमोर्ध्वकरं च । इमं मया तुभ्यं गदितम् । संवादम् । अहम् । इत्युक्तप्रकारेण । अश्रौषं श्रुतवानस्मि ॥ ७४ ॥

संजय ने कहा—इस प्रकार मैंने महात्मा श्रीवासुदेव और अर्जुन का यह अद्भुत और रोमाञ्चकारी संवाद सुना ॥ ७४ ॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥ ७५ ॥

नन्विहगृहे स्थितो भवान्कथं श्रुतवानिति चेद्ब्रच्मि । व्यासेति । अहम् । व्यासस्य द्वैपायनस्य प्रसादाद्दिव्यचक्षुः श्रोत्रादिदानरूपानुग्रहात्त तत् प्राप्येत्यर्थः । परम् । गुह्यम् । योगं कर्मयोगं ज्ञानयोगं भक्तियोगं च । स्वयमर्जुनाय कथयतः । योगेश्वरात् । कृष्णात्परमानंदमूर्त्तेः श्रीहरेः सकाशात् । साक्षात्प्रत्यक्षम् । एतदुपनिषदात्मकं ज्ञानम् । श्रुतवानस्मि ॥७५॥

श्रीव्यासदेव के प्रसाद से यह योग नामक परम गुह्य (रहस्य) मैंने स्वयं योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण से साक्षात् कहते हुए सुना ॥ ७५ ॥

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥

राजन्निति । हे राजन् । केशवश्च अर्जुनश्च तयोः । पुण्यम् । अद्भुतम् । इमं मया श्रुतम् । संवादम् । संस्मृत्य संस्मृत्य । मुहुर्मुहुः । हृष्याम्यहं हर्षं प्राप्नोमि ॥ ७६ ॥

राजन् ! श्रीकृष्ण और अर्जुन के इस अद्भुत और पुण्यमय संवाद को पुनः-पुनः स्मरण करके मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ ॥ ७६ ॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ ७७ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तदिति । हे राजन् । च पुनः । अत्यद्भुतम् । हरेः । यद्रूपमर्जुनाय दर्शितं विश्वरूपम् । तच्च । संस्मृत्य संस्मृत्य । मे मम । महान् । विस्मय आश्चर्यं भवति । पुनः पुनः । हृष्याम्यानंदं च प्राप्नोमि । मया साक्षात्तस्यानुभवकृतत्वादिति भावः ॥ ७७ ॥

राजन्! भगवान् श्रीहरि के उस अति अद्भुत रूप को भी बार-बार स्मरण करके मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है और मैं पुनः-पुनः हर्षित हो रहा हूँ ॥ ७७ ॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

अधुनापि स्वपुत्राणां श्रीविजयादिकं कांक्षमाणं धृतराष्ट्रं वदंस्तदिच्छां निरस्यति । यत्रेति । यत्र यस्मिन्पक्षे । योगानां श्रीविजयभूतिनीतिप्राप्त्युपायानामीश्वरो नियंता । कृष्णो धर्मवर्मा श्रीवासुदेवोऽस्ति । यत्र यस्मिन्सैन्ये । धनुर्धरो गांडीवधनुर्धर्त्ता । पार्थः कुन्तिपुत्रोऽर्जुनोऽस्ति । तत्र तस्मिन्पक्षे सैन्ये च । विजयः शत्रुपराभवः । ध्रुवा निश्चला । श्रीराज्यलक्ष्मीः शोभा वा । भूतिः समृद्धिः । नीतिर्न्यायश्च भवति । इति । मम । मतिर्निश्चयोऽस्ति ॥७८॥

सर्वांतर्यामिणं धार्मिसर्वक्रियाप्रवर्त्तकम् । स्वामिनारायणं वंदे तत्कृपापात्रतत्सतः ॥ १ ॥
दामेशं पूर्णं प्रभुमखिलधाम्ना प्रकृतितः परं सर्वाधारं प्रतियुगमिहाविष्कृततनुम् ।
निजैकांतं धर्मं प्रथयितुमिलायां प्रकटिताकृतिं धर्माद्भक्तौ परमपुरुषं नौमि सततम् ॥ २ ॥
प्रणम्यैनं कृष्णं सकलसुखदातारमवधप्रसादाचार्यें द्रप्रथितरघुवीराख्यममलम् ।
नमाम्याचार्यें द्रं मम च पितरं सौम्यभगवत्प्रसादाचार्यं श्रीहरिरतगृहित्यागिजनताम् ॥ ३ ॥
प्रयासेनानेन स्वयममृतधामा मुनिपतिः प्रसन्नो भूयाच्छ्रीहरिरतिकृपालुर्मदुपरि हि ।
तथा तत्पुत्रौ ते सकलमुनयो भक्तनिकराः पिता मे प्रीत्यै तानहमवरतं नौमि निखिलान् ॥४॥
कृष्णमीशेश्वरं ब्रह्मधामाधिपं स्वामिनारायणं नीलकण्ठं हरिम् ।
साक्षिणं देहिनां पालकं प्राणिनां स्वाश्रितानां महत्सौख्यदं नौम्यहम् ॥ ५ ॥

इति श्रीमदद्वितीयसकलावतारकारणश्रीहरिकृष्णभगवत्सूनुश्रीरघुवीराचार्यात्मजश्रीभगवत्प्रसादाचार्यपुत्रश्रीविहारिलालाचार्यविरचितायामुपनिषदात्मकश्रीभगवद्गीताटीकायामन्वयार्थदीपिकायामष्टादशोऽध्यायः ॥ १॥ ॥

जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण और जहाँ धनुर्धर अर्जुन हैं, वहीं श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है । यह मेरी सम्मति है ॥ ७८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi.